होना संसारमें समस्त सुन्दर मङ्गलोंका मूल है॥ २०७॥ सो वह तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण ही हैं*, तुम्हारे समान कौन अत्यन्त बड़भागी है?॥ १॥ हे तात! तुम्हारे लिये यह आश्चर्यकी बात नहीं है, (क्योंकि तुम) दशरथके पुत्र और श्रीरामजीके प्यारे भाई हो॥ २॥

नोट—१ '*करतेहु राज*' इति। (क) दोष न होनेका कारण पूर्व कह चुके हैं कि लोकवेद सबका सम्मत है कि पिता जिसको राज्य दे वही पाता है। तुमको पिताने दिया ही है। (ख) '*रामहि होत संतोषू*' श्रीरामजीने कैकेयी और वाल्मीकिजीसे कहा ही है '*भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥*' (४२। १), '*भाइ भरत अस राउ।""सब मम पुन्य प्रभाउ॥*' (१२५) और भरतजीको सँदेसा भेजा ही है कि '*नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ पालेहु प्रजहि करम मन बानी।*' (१५२। ३, ४) अतः वे प्रसन्न होंगे ही।

पु० रा० कु०—१ '*अब अति कीन्हेहु भरत भल*' इति। अर्थात् राज्य करते तो '*भल*' था और श्रीरामचरणानुराग किया, उसे छोड़ दिया, यह '*अतिभल*'। राज्य-पितृभक्ति सामान्यधर्म था और यह भागवत, धर्म विशेष है, अतः '*अतिभल*' है। पुनः रामचरणानुराग सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलोंका मूल है, अतएव यह कर्तव्य अत्यन्त भला है।

नोट—२ '*सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना*' इति। जीवन और प्राण प्रायः एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। जीवन हैं, प्राण हैं, अर्थात् परमप्रिय हैं, प्राणाधार हैं। पर यहाँ दोनोंका एक साथ प्रयोग होनेसे इनके भावमें कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य होना चाहिये। 'जीवन'=जिसके कारण कोई जीता रहे, जीवित रखनेवाली वस्तु प्राणका अवलम्ब, प्राणका आधार। 'प्राण'=शरीरकी वह वायु जिससे मनुष्य जीवित रहता है, वह जो प्राणोंके समान प्यारा हो, परम प्रिय। भाव यह कि रामपदप्रेम ही तुम्हारे प्राण और प्राणोंका अवलम्ब है। तुम रामप्रेममय हो। विशेष भाव आगे टिप्पणियोंमें हैं।

पु० रा० कु०—२ (क) संसारमें धन, जीवन और प्राण तीन ही प्यारे हैं; इससे इन्हीं तीनोंको कहा। रघुबरपदप्रेम ही तुम्हारे जीवन, धन, प्राण हैं यह तुम्हारे लिये आश्चर्यकी बात नहीं। दशरथके पुत्र हो जिन्होंने रामके लिये प्राण दे दिये, तुमने राज्य छोड़ दिया तो क्या आश्चर्य? उन्हींके पुत्र तो हो! पुनः, '*दशरथ सुअन*' अर्थात् '*जासु सनेह सकोचबस राम प्रगट भे आइ*', उनके पुत्र होकर तुम रामानुरागी क्यों न हो? फिर रामके भाई और वह भी 'प्रिय'। श्रीरामजी पिताकी आज्ञा मानकर राज्य छोड़कर वनको चल दिये, तुम दिया हुआ राज्य छोड़ उनके लिये वनको जाते हो। श्रीरामजीको अच्छा न लगा कि '*बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू*' और तुमको अच्छा न लगा कि '*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई*' को तोड़कर तुम राज्य लो। (ख) प्राणके हेतु जीवन है और जीवनके हेतु धन है। धनसे अधिक जीवन, जीवनसे प्राण। धनसे जीवन अर्थात् अन्न होता है और अन्नमें प्राण हैं। उत्तरोत्तर अधिक कहा। यहाँ भरतका प्रेम समस्त मुनियों, भक्तों तथा शिवजीके प्रेमसे भी अधिक दिखाया, यथा—'*मुनि जन धन सरबस सिव प्राना।*' मुनियोंके धन हैं, भक्तजनोंके सर्वस्व हैं और शिवजीके प्राण हैं और आपके तो धन, जीवन और प्राण सभी कुछ हैं।

नोट—३ श्रीरामचरणानुरागरूपी पदार्थ बड़े भाग्यसे मिलता है, यथा—'*तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय। बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥*' (बरवै० ६३) और तुमको तो रामचरणस्नेहरूपी धन-जीवन-प्राण प्राप्त है; तब तुमसे भारी भाग्यवान् कौन हो सकता है? यथा—'*भूरि भाग भाजन भयहु""। जौं तुम्हरे मन छाड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ॥*' (७४) [शिवजीके प्रेमसे भी तुम्हारा प्रेम श्रेष्ठ है अतः तुमसे भूरिभाग्यवान् दूसरा नहीं (प० प० प्र०)]

---

* अथवा, तुम्हारा सर्वस्व धन है और प्राणोंका जीवन है—(पं०)। वा, धन जीवनका हेतु है, जीवन प्राणका हेतु है। (पु० रा० कु०) वा, ऋणोंका जीवन धन है। (वि० टी०)

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ ३॥
लषन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥ ४॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होंहि तुम्हरे अनुरागा॥ ५॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥ ६॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई॥ ७॥

शब्दार्थ—पात्र=बरतन=वह व्यक्ति जो किसी विषयका अधिकारी हो, जो किसी वस्तुको पाकर उसका उपभोग कर सकता हो। 'सुख जीवन'—जीवन सुखसे व्यतीत हो, दुःख न हो, यही सुखपूर्वक जीवन है, यथा—*'सुख जीवन ज्यों जीवको मणि ज्यों फणिको हित ज्यों धन लोभलीन को'*। वा, सुख और जीवन। (रा० प्र०)

अर्थ—हे भरत! सुनो, रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके मनमें तुम्हारे समान कोई भी प्रेमका पात्र नहीं॥ ३॥ लक्ष्मण, राम और सीताजीको अत्यन्त प्रीतिसे सारी रात तुम्हारी सराहना करते-करते बीत गयी॥ ४॥ प्रयागमें स्नान करते समय हमने इस भेदको जाना। वे तुम्हारे प्रेममें डूब जाते थे॥ ५॥ तुम्हारे ऊपर रघुबरका ऐसा ही स्नेह है जैसा कि संसारमें मूर्ख (देहाभिमानी) लोगोंको सुखपूर्वक जीवनपर स्नेह होता है*॥ ६॥ यह रघुनाथजीकी कुछ अधिक (अतिशयोक्ति)बड़ाई नहीं है,क्योंकि रघुराई (रामजी) तो शरणागतके कुटुम्बभरके पालनेवाले हैं (तो फिर तुमसे प्रणतशिरोमणिपर ऐसा स्नेह रखें तो क्या बड़ी बात है?)॥ ७॥

नोट—१ (क) ऊपरतक श्रीभरतजीकी प्रीति श्रीरामजीमें कही, अब श्रीरामजीका इनमें प्रेम कहते हैं। (ख)*'प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥'*··· अर्थात् प्रेमपात्र श्रीसीता और लक्ष्मणजी भी हैं पर उनके रहते हुए भी तुम्हारी यादमें सारी रात व्यतीत कर दी, इनसे जान पड़ा कि तुम्हारे समान वे भी प्रिय नहीं और न कोई और ही है। श्रीरघुनाथजीहीका प्रेम तुमपर है, श्रीसीतालक्ष्मणजी रुष्ट न हों, यह भी सन्देह न करो; क्योंकि वे बड़े प्रेमसे तुम्हारी प्रशंसा रातभर करते रहे, इससे उनका भी तुमपर प्रेम होना सिद्ध है। (पं०) (ग) श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी रामानन्य हैं, इसीसे पूर्वार्धमें इनको 'रघुबर' के साथ नहीं रखा; क्योंकि इनके मनमें तो *'प्रेमपात्र राम सम कोउ नाहीं।'* (घ) यहाँ लक्ष्मणजीका नाम प्रथम कहनेका भाव यह भी है कि ये शुद्ध रामानुरागी हैं। यदि भरतजी रूखे रामानुरागी होते, उनका सच्चा स्नेह श्रीरामजीमें न होता या जरा भी कसर होती तो कदापि न सराहना करते, सो उन्होंने ही प्रथम तुम्हारी प्रशंसा की। (वै०, रा० प्र०) प्रेम होना वचनद्वारा जाना। पुनः मनमें प्रेम होनेका एक और भी सबूत (प्रमाण) पाया।

नोट—२ *'जाना मरम नहात प्रयागा।'''* इति। अर्थात् मनका मर्म स्नान करनेके समय भी मिला वह यों कि—(क) प्रयाग-स्नानपर जब पण्डोंने संकल्प पढ़ा—'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे···' तो ज्यों-ही *'भरत'* शब्द कानमें पड़ा त्यों-ही वे तुम्हारे प्रेममें डूब गये। *'होहिं'* बहुवचन है। इससे जनाया कि बारम्बार प्रेममें मग्न हो जाते थे। यहाँ संकल्प भी तो कई बार पढ़ा गया, क्योंकि लक्ष्मणजी और निषादराजजी भी साथ थे एवं और यात्री भी स्नान करनेको रहे होंगे। अनुरागमें डूबना यह कि रोमाञ्च, प्रेमाश्रु, गद्गदस्वर, शिथिल तन, इत्यादि दशा हो जाती थी। पुनः *'जाना मरम नहात प्रयागा'* का यह भी भाव है कि प्रयागभरने इस मर्मको जाना कुछ हमने ही नहीं। (पु० रा० कु०) बाबा हरिहरप्रसादका मत है कि भरतजीका नाम ले-लेकर गोता लगाते थे और आनन्दमें मग्न हो जाते थे। पाँड़ेजी एवं रा० प्र०—कारने यह अर्थ दिया है—'तुम्हारे अनुरागरूप प्रयागमें नहाकर मग्न हो जाते थे अर्थात् कहते-कहते वाणी रुक जाती थी, बोल बंद हो जाता था, कण्ठ गद्गद हो जाता था, इससे मर्म जाना। यहाँ प्रशंसा करना नहाना है और

* उदाहरण अलङ्कार है।

चुप हो जाना मग्न होना है।' [त्रिवेणीस्नानके समय मर्म जाननेमें यह शङ्का उठाकर कि 'भरद्वाजजी तो वहाँ नहीं थे?' उन्होंने इसका समाधान यह किया है कि 'शिष्य साथ रहे होंगे, उनके द्वारा जाना; या सर्वज्ञ हैं, अतः जान गये।' पर इसका क्या सबूत कि साथ न थे, प्रातःकाल साथ ही स्नानको गये हों, यह भी सम्भव है; क्योंकि वे जानते हैं कि ये परब्रह्म हैं और इनका उनमें बड़ा प्रेम कह ही आये हैं।] पुनः यमुनाजीको देखते ही स्मरण हुआ और वे प्रेममें मग्न हो गये। इससे हमने जाना। (खर्रा) अ० दी० कार कहते हैं कि 'श्रीयमुनाजीका श्याम रंग देखकर जलमें डूबने लगे अर्थात् बार-बार गोता लगाने लगे। उस समय लक्ष्मणजीने बाँह पकड़कर उनको स्थिर किया, डूबनेसे बचाया। उनका आपमें ऐसा अगाध प्रेम है। (अ० दी० च०) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'भरद्वाजजीने श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजीद्वारा सारी रात भरतजीकी सराहना करते हुए सुनकर यह तो निश्चय कर ही लिया कि भरतके समान श्रीरामजीका प्रेमपात्र दूसरा नहीं है; क्योंकि भरत उनको भी प्यारे हैं और उनके प्रिय लक्ष्मण और सीताजीको भी प्रिय हैं, तब प्रयाग नहाते हुए कौन-सी नयी बात जानी जो कहते हैं कि *'जाना मरमु नहात प्रयागा?'* उत्तर यही है कि मुनिजीने सोचा कि भरतके रङ्ग-सा यमुनाजलको देखनेसे जब इनको इतनी प्रीति हो रही है कि भरतके अनुरागमें मग्न हुए जाते हैं, तब तो जैसे जड मनुष्यको सुख-जीवनपर प्रीति होती है वैसी प्रीति भरतपर है। यह मर्म मुनिजीको उस समय मालूम हुआ, जब कि दूसरे दिन मुनिजीके साथ त्रिवेणी-स्नानको गये, यथा—*'राम कीन्ह बिश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।'*

नोट—३ *'सुख जीवन जग जस जड़ नर कें'* इति। भाव कि—मूर्ख, अज्ञानी, देहाभिमानी इन्द्रियविषयमें आसक्त जो लोग हैं, वे सुखपूर्वक जीवन हो अर्थात् भोजन, वस्त्र, शय्या, आरोग्यता आदिका शरीरको सुख हो, बस यही उनका जन्म लेनेका उद्देश्य है, चाहे धर्म जाय, अपमान हो, इसकी परवा नहीं। (पु० रा० कु०) देहाभिमानियोंको शरीरसुख और जीवन (आयु) प्रिय होता है। वे तीर्थमें जाकर सुख और आयुकी वृद्धि ही माँगते हैं। वैसे ही श्रीरामजी तुम्हारे प्रेमकी एवं तुम्हारी वृद्धि माँगते थे। (मा० म०) ☞ मिलान कीजिये—*'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥'* (१४२। २) (ख) दुःखका जीवन तो ज्ञानी या अज्ञानी किसीको भी प्रिय नहीं, फिर ऐसा उदाहरण क्यों दिया? उत्तर—ज्ञानी न सुखमें सुखी न दुःखमें दुःखी। मूर्ख सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होता है। यथा—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* (१५०। ७) इसीसे वह सुखकी चाहना करता है। ज्ञानी किसीकी चाहना या उपेक्षा नहीं करते। बस यही दोनोंमें अन्तर है। (वीर)

नोट—४ *'यह न अधिक रघुबीर बड़ाई'* इति। पूर्व भरतजीके सम्बन्धमें कहा था—*'यह तुम्हार आचरज न ताता'*, उसीकी जोड़में यहाँ रामजीके सम्बन्धमें यह कहा।

तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥ ८॥

दो०—तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥ २०८॥

शब्दार्थ—रस=वैद्यकमें धातुओंको फूँककर तैयार किया हुआ भस्म जिसका व्यवहार औषधके रूपमें होता है, जैसे, मृगाङ्क, सेंदूर-रस इत्यादि। 'श्रीगणेश होना' मुहावरा है—प्रारम्भ होना, प्रथम-प्रथम किया जाना।

अर्थ—हे भरत! मेरा मत तो यह है कि तुम तो मानो शरीर धारण किये हुए (मूर्तिमान्) रामप्रेम ही हो॥ ८॥ हे भरत! तुम्हारे लिये (समझमें) यह कलङ्क है पर हम सबके लिये यह उपदेश है। श्रीराम-भक्तिरसकी सिद्धिके लिये यह समय ही श्रीगणेश हुआ अर्थात् राम-भक्तिकी प्राप्तिका पाठ आज हमने तुमसे श्रीगणेश किया है, सीखा है॥ २०८॥

नोट—१ *'तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू'''* इति। (क) यह मेरा मत है, दूसरेका कहा-सुना नहीं कहता, अपना अनुभव कहता हूँ। (पु० रा० कु०) (ख) रामस्नेह ही शरीर धारण करके प्रकट हुआ

है। भाव कि और लोग प्रेमको धारण करते हैं और तुम साक्षात् रामप्रेम हो। (पं०, रा० प्र०) अर्थात् जिसको *'रामप्रेम'* देखनेकी चाह हो वह तुम्हारा ध्यान कर ले, तुम्हारे प्रेमका ध्यान कर ले, तो वह जान जायगा कि रामप्रेम कैसा होता है, उसको कैसा प्रेम करना चाहिये। (ग) यहाँ अवधवासियोंके मतसे मुनिके मतको मिलान करके देखिये कि दोनोंमें कौन सरस है। वहाँ *'भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥'* (१८४। ४) और यहाँ *'धरे देह जनु रामसनेहू'*; वहाँ वाचक *'जनु'* नहीं है।

नोट—२ *'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।'''* इति। (क) *'तुम्ह कहँ कलंक यह'* अर्थात् जिसको तुम कलङ्क मान रहे हो, वही हमको उपदेशरूप है, हमको शिक्षाप्रद है। अर्थात् इसके द्वारा तुम हमारे उपदेशकर्त्ता (उपदेष्टा) हुए। (पु० रा० कु०) (ख)—*'यह'* से क्या कलङ्क जनाया? (उत्तर)—भरतजीकी माताने कुलपरम्पराको तोड़कर अपने स्वार्थके लिये श्रीरामजीको वन और श्रीभरतजीको राज्य दिलाया। इस सब अनर्थके कारण हम ही हैं। अथवा पिता, माता, गुरु और स्वामीकी आज्ञा न मानी, यह कलङ्क है। (पु० रा० कु०) अथवा राज्य कलङ्क है; अथवा माताके त्यागका कलङ्क। (पं०)

☞'इनसे उपदेश क्या और कैसे हुआ?' सो क्रमसे सुनिये—

(१) कैकेयी स्वार्थपरायणा हो राम-विमुख हुई। फल यह हुआ कि लोक-परलोक दोनों बिगड़े। लोकमें अपयश मिला और जिनके लिये उसने सुख चाहा उनका अपना पूर्व सुख भी गया, वे वनमें कष्ट पा रहे हैं। परलोक यह कि पतिसे विमुख हुई, पुत्रने भी त्याग दिया। इससे हमको यह उपदेश हुआ कि कभी भूलकर भी स्वार्थमें न रत हों, नहीं तो भगवद्विमुख हो जायँगे। (वै०)

(२) पिता, गुरु आदिकी आज्ञा मानना सब धर्मोंमें शिरोमणि है, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* आज्ञा न पालन करना अधर्म है, पाप है, उससे अपयश होता है। पर तुमने इसे रामसम्मुखताका बाधक जानकर इनकी आज्ञाका तिरस्कार किया और राज्य न ग्रहण किया, आज्ञा-पालनको *'परम हानि'* समझा, अपयशको न डरे—*'लोक कहउ गुरु साहिब द्रोही'*। आपका सिद्धान्त यही रहा कि *'बादि मोर सब बिनु रघुराई'*। तुम परमार्थपरायण हुए। तुमने लौकिक धर्मोंका त्याग करके भगवत्-शरणागति परमधर्मको ही ग्रहण किया। फल यह हुआ कि तुम्हारा वह 'कलङ्क' 'भूषण' हो गया। हमको यह शिक्षा हुई कि प्रभुकी शरणागतिमें जो कोई बाधक हो वह सर्वथा त्याज्य है, चाहे वह कैसा ही पूज्य क्यों न हो। भगवत्परायण होनेमें लोक और परलोक दोनों बनते हैं, यथा—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३) जिनका नाम-स्मरण करनेवालेको यह फल प्राप्त होगा उसको स्वयं वह फल क्यों न प्राप्त होगा?

(३) भाव कि तुमने राज्यको कलङ्क माना तभी उसका त्याग किया। हमें उपदेश हुआ कि रामप्रेमी भरतने ऐसा ऐश्वर्य, ऐसा धर्मनीतिसे प्राप्त 'पितादत्तराज्य' तक त्याग दिया तो हमलोगोंको आश्रम आदिमें भी ममता न करनी चाहिये। माताके त्यागसे उपदेश मिला कि रामविरोधी पूज्यका भी त्याग उचित है। (पं०)

नोट—दूसरा अर्थ यह है कि तुमको कलङ्क हुआ इसीसे हमको रामभक्तिके लिये आज उपदेश हुआ। न कलङ्क लगता, न तुम यहाँ आते, न लोगोंको शुद्ध प्रेमाभक्तिका मार्ग मालूम होता।

(४) यह कलङ्क हमको उपदेश हुआ; क्योंकि उससे हमें प्रेमलक्षणाभक्तिकी प्राप्ति हुई, यथा—**'पेम** *अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुरसाधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'* (२३८) यह समय गणेश हुआ; क्योंकि तुम्हारे वैराग्यको, तुम्हारे प्रेमको देखकर यह भक्ति हुई। इसी तरह जो कोई तुम्हारे वैराग्य, तुम्हारे अनन्य प्रेम, शुद्ध शरणागति तथा तुम्हारी इस समयकी दशाका स्मरण करेंगे और उसका अनुकरण करते हुए रामभक्तिपथपर आरूढ़ होंगे वे अवश्य रामभक्ति पावेंगे, और उन्हें लोक-परलोक दोनोंमें लोक-धर्म-त्यागसे अपयश न होकर यश और सुख ही प्राप्त होंगे। यथा—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'** (गीता) (पु० रा० कु०)

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी एक महानुभावकी इस शङ्काका, कि 'श्रीभरद्वाज तो श्रीभरतजीको सर्वथा

निर्दोष मानते हैं तब *'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह'* से किस कलङ्कपर लक्ष्य है?', समाधान इस प्रकार करते हैं कि 'कलङ्क' शब्दका एक अर्थ 'सिद्धि' भी है, यथा—*'करत न समुझत झूठ गुन सुनत होत मति रंक। पारद प्रगट प्रपंचमय सिद्धिहि नाउँ कलंक॥'* (दो० २६०) श्रीभरद्वाजजी कह रहे हैं—*'तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू'''गनेसु॥'* अर्थात् औरोंके मतसे तो आप *'राम प्रेम मूरति तनु आही'*, श्रीरामप्रेमकी साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं ही। आपके मतको जगद्विख्यात ज्ञानी ऐसा मानते ही हैं कि *'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥ साधन सिद्धि राम पग नेहू। (मोहि लख परत) भरत मत एहू॥'* (२८९। ७-८) और मेरे मतसे भी आप साक्षात् श्रीरामस्नेह (प्रेम) के अवतारविग्रह ही हैं। अत: आपको तो यह रामभक्ति 'कलङ्क' अर्थात् सिद्धि ही है, परन्तु (आपका यह रामप्रेममय आचरण व्यवहार) हम सबको (माया-त्यागका) उपदेश (दे रहा) है। आगे वसिष्ठजीने भी कहा ही है—*'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥'* आत्यन्तिक मोक्ष अर्थात् अक्षुण्ण नित्य भगवत्कैंकर्य-सान्निध्य-प्राप्ति ही रामभक्ति-रसकी सिद्धि है। (वै० भू०)

*** 'राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु'***

गणेशजी सिद्धिके देनेवाले हैं। कार्यसिद्धिके लिये उनका स्मरण किया जाता है, यथा—*'जो सुमिरत सिधि होइ'''* । प्रारम्भमें **'श्रीगणेशाय नम:'** करते हैं, यह लोकरीति है। वैसे ही रामभक्तिरसके सिद्ध करनेके लिये 'यह समय' गणेशरूप है। भाव कि जो भक्ति चाहे वे तुम्हारे इस समयकी भक्तिका स्मरण करके भक्तिपथमें पैर रखें तो उन्हें सब प्रकारकी भक्तियाँ प्राप्त हो जायँगी। *'भक्तिरस'* से भक्तिके पाँचों रस 'शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गाररसका अर्थात् पञ्चरसात्मिका प्रेमलक्षणा रसरूपा भक्ति' अर्थ यहाँ लिया गया। दूसरा अर्थ आगे देते हैं। (पं० वै०) पारा, सोना, चाँदी, मूँगा इत्यादि जो फूँके जाते हैं उनको भी रस वा रसायन कहते हैं। 'रस' और 'सिद्धि' शब्दोंसे जान पड़ता है कि रसायन-सिद्धिसे यह रूपक बाँधा गया है। मारे हुए पारेका नाम 'कलङ्क' है और यहाँ भी 'कलङ्क' शब्द है। उस 'कलङ्क' (पाराकी राख) से स्वर्ण (रस) की सिद्धि होती है—ताँबेसे सोना बन जाता है, वैसे ही इस 'कलङ्क' से *'राम भक्तिरस'* की प्राप्ति हुई। (वै०)

श्रीगौड़जी कहते हैं कि गंधकके साथ पारेको खरल करनेसे काली कज्जली बनती है। वही कलङ्क है। 'रस' बनानेमें कज्जलीसे ही आरम्भ होता है। भक्तिरसकी सिद्धिके लिये भी गुरुके उपदेशसे आरम्भ होता है। यहाँ रस शब्दके भी वैद्यक और साहित्यिक दोनों अर्थ लिये गये हैं। भरतजीके चरित विशेष अर्थात् राजत्याग और रामपदानुरागका यह समय, यह शुभ मुहूर्त, *'राम भगतिके बाधक'* विघ्नोंको दूर रखनेवाले और शुभारम्भ करानेवाले गणेशके समान हैं।

वि० त्रि०—*'तुम्ह कहँ भरत कलंक'''''* इति। तुम राज्य-ग्रहणको वारुणी-ग्रहणके समान (कलङ्क) मान रहे हो। भरद्वाजजी कहते हैं कि यही बात हम 'तपस्वियोंके लिये उपदेश है कि रामानुरागी रमाविलासको वमनकी भाँति त्याग करें। इतना ही नहीं और भी एक बड़ी भारी बात हुई। प्राचीन कवियोंने भक्तिको भाव माना। आलम्बन-उद्दीपनादिके स्पष्ट न होनेसे उसे रस नहीं माना। भरद्वाजजी कहते हैं कि तुम्हारे कारण अब राम-भक्तिकी इसमें गणना हो गयी, अत: रामभक्तिरस सिद्धिके लिये यही समय श्रीगणेश हो गया। अब भक्ति रस मानी जायगी।

मा० हं०—*'भा यह समउ गनेसु'* इन शब्दोंमें साफ झलक रहा है कि महात्मा भरद्वाजजी भरतजीको अपना गुरु समझने लगे; और *'सब कहँ उपदेसु'* इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि भरतजीकी दीक्षाका उन्होंने वह एक प्रचार-सा डाल दिया। प्रचार कहनेका कारण यह है कि स्वयं रामजी भी भरी सभामें *'भरत कहहि सोइ किये भलाई'* ऐसा प्रथम कहकर थोड़ी ही देरके बाद *'कहहु करउँ सोइ आजु'* ऐसी प्रतिज्ञा कर गये हैं। यह रामजीका भरतजीके अङ्कित हो जानेका निश्चित प्रमाण है। रामजीके पश्चात् शुकगुरु जनकजी भी *'जो आयसु देहु'* कहकर भरतजीके अधीन हो गये हैं। इसके परिणाममें चित्रकूटपर

उपस्थित सब ऋषि-मुनियोंकी जमात भरतजीकी अनुगामी बन गयी। योगवासिष्ठके नियन्ता महात्मा रामगुरु वसिष्ठजीकी तो कुछ पूछो ही मत; उन्होंने *'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धर्मसार जग होइहि सोई॥'* [तुम्हारे (भरतजीके) विचार, उच्चार और आचार सब संसारके लिये केवल धर्म-रहस्य ही हैं] ऐसा प्रथित करनेसे भरतजीका जगद्गुरुत्व स्वयं स्वीकृत किया और सब संसारमें प्रस्थापित कर दिया—ऐसा ही समझना चाहिये। भरतजीका 'लोकशिक्षकत्व' सिद्ध करनेके लिये अधिक प्रमाणोंकी अपेक्षा क्या अभी भी उर्वरित रह सकती है?

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ १॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥ २॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिहीं॥ ३॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥ ४॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥ ५॥
रामभगत अब अमिअ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥ ६॥

शब्दार्थ—'**उदित**'=जो उदय हुआ हो, निकला हुआ, प्रकट। '**बसुधा**' (वसु=धनदाता+धा-प्रत्यय)=पृथ्वी।

अर्थ—तात! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है। रघुवर (श्रीरामजी) के दास कुमुद (कुईं पुष्प) और चकोर हैं॥ १॥ यह सदा उदित रहेगा, कभी भी अस्त न होगा। संसाररूपी आकाशमें यह घटेगा नहीं (किंतु) दिन-दिन दूना होगा॥ २॥ त्रिलोकीरूपी चक्रवाक इससे अत्यन्त प्रीति करेंगे, श्रीरामचन्द्रजीका प्रतापरूपी सूर्य इसकी छबिको न हरेगा॥ ३॥ दिन-रात, सदा और सब किसीको यह सुखदायक होगा। कैकेयीका कर्त्तव्यरूपी राहु इसे न ग्रसेगा। कैकेयीकी करनीसे इस यशमें धब्बा न लगेगा॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतसे यह पूर्ण है। यह गुरुके अपमानरूपी दोषसे दूषित नहीं हुआ है॥ ५॥ तुमने पृथ्वीको भी अमृत सुलभ कर दिया—अब रामभक्त इस अमृतसे भरपेट पूर्ण होवें!॥ ६॥

नोट—१ (क) ऊपर जो *'तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई॥'* (२०७। २) कहा था, वह बीजरूप था। उसीकी विस्तृत व्याख्या यहाँतक चली आयी और मुख्य व्याख्या यहाँ है। (ख) यहाँ अधिक अभेद रूपक है। आकाशमें जो चन्द्रमा है उससे इस यशरूपी चन्द्रमामें सर्वत्र अधिक गुण दिखाये हैं। उसमें बहुत अवगुण हैं। इसमें सब गुण-ही-गुण हैं।

नोट—२ *'रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।'* इनसे दो प्रकारके भक्त जनाये-प्रवृत्तिमार्गवाले और निवृत्तिवाले। अथवा, कुमुदसे स्थायी (स्थावर) और चकोरसे संचारी (जंगम) जैसे लोमश स्थायी और नारद विचरनेवाले हैं। अथवा, कुमुद पुरीके लोग और चकोर वनवासी ऋषि-मुनि। (पु० रा० कु०) वा, बहिरङ्ग और अन्तरंग भक्त जनाये—*'अंतरंग भक्त हरिजूके जो इनको यश गावे'*—(भक्तमाल) अथवा, कुमुद स्त्रीलिङ्ग और चकोर पुँल्लिङ्गकी उपमा देकर स्त्री-पुरुष दोनों प्रकारके भक्त सूचित किये। (नं० प०) चन्द्रमासे कुमुद प्रफुल्लित और चकोर आनन्दित होता है, वैसे ही रामभक्त प्रफुल्लित और आनन्दित होगा।

नोट—३ *'कोक तिलोक प्रीति अति""।'* इति। तीनों लोक ही चक्रवाक हैं। अथवा, लोक=लोग, यथा—*'लोकस्तु भुवने जने।'* त्रिलोक=विषयी, मुमुक्षु और मुक्त तीन प्रकारके जीव—(पां०, पु० रा० कु०)

नोट—४ *'गुर अवमान'* इति। चन्द्रमाको गुरु-अपमानका दोष लगा था। यथा—'**ससिगुरतियगामी**""।' गुरुसे गुरु और गुरुजन दोनों अभिप्रेत हैं। भरतजीने पिता और गुरु दोनोंका कहा न किया।

नोट—५ यह रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट समझमें आ जावेगा।

भरत यश-चन्द्रका प्राकृत चन्द्रसे मिलान

चन्द्रमा	भरत यश-चन्द्र
१—यह पुराना है, इसमें अवगुण बहुत हैं अतएव समल है—बा० २३७ देखिये।	१—*'नव बिधु बिमल तात जस तोरा'* यह नया है और उपमारहित—*'कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।'*
२—*'जनम सिंधु'*—भयानक जीवोंसे भरे हुए समुद्रसे जन्म।	२—पिता दशरथ *'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भे आइ'* पुनः, रघुकुलमें जन्म जहाँ इक्ष्वाकु, रघु, मान्धाता, भगीरथ, हरिश्चन्द्र आदि प्रतापी यशस्वी राजा हुए।
३—बंधु, विष और वारुणी।	३—*'राम लषन से भाइ।' 'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'* (२६२। ८)
४—*'दिन मलीन'*। सूर्य छवि हरता है। *ससिछबि हर रबिसदन तउ मित्र कहत सब कोइ।'* (दो० ३२२)	४—*'प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही',* यह चन्द्रयश सदैव रामप्रतापरविके साथ चमकता देख पड़ेगा।
५—*'सकलंक'*। गुरुद्रोही है।	५—*'गुरु अवमान दोष नहिं दूषा'*
६—*'घटइ बढ़इ'*। नित्य उदय-अस्त होता। अमावस-प्रतिपदाको उदय नहीं होता।	६—*'उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटइ न जग नभ दिन दिन दूना॥'*
७—यह नभमें है (सबको सुलभ नहीं)।	७—यह जगत्में (सबको सुलभ)
८—*'बिरहिन दुखदाई।'* सुख केवल कुछको, वह भी रातमें और सबको दुःखद। दिनमें **प्रानप्रिय** किसीको सुख नहीं।	८—यह *'निसि दिन सुखद सदा सब काहू।'* रामबिरहीको ये प्राणप्रिय *'भा सब के मन मोदु न थोरा।'''भरतु प्रानप्रिय भे सबही कें॥'* (१८५। १-२) और 'रघुबर किंकर' को विशेष सुखद।
९—*'ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई'* (बा० २३८। १)	९—*'ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू।' यथा—'जो पाँवरु अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥ सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसहि कलप सत नरक निकेता॥'* (१८४। ६-७)
१०—*'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही'*	१०—*'कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं।'*
११—चन्द्रमामें मृग सदा (*'ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई'*) यह रोग है।	११—*'जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा।'* यह भवरोगका नाशक है।
१२—इसमें अमृत घट जाता है। चन्द्रमाकी १६ कलाएँ जैसे-जैसे घटती हैं तैसे-तैसे अमृत भी घटता है।	१२—*'पूरन राम सुपेम पियूषा।'* यथा *'सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।'*
१३—आकाशमें टँगा, इससे पृथ्वीपर अमृत सुलभ नहीं।	१३—यह जगत्में भी सबको रामप्रेमामृत प्राप्त कराता है—*'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति॥' 'रामभगत अब अमिय अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥'* (२०९। ६)
१४—यहाँ देवता अमृत पीते हैं।	१४—यहाँ रामभक्त प्रेमसे पूर्ण होते हैं।

'भरतजीका भरद्वाजसत्कार'

श्रीजामदारजी १—इस प्रसंगका सम्पूर्ण भाग बड़ा ही रमणीय है। उसमें भरद्वाजजीके मुखसे भरतजीके

विषयमें जो प्रशंसा-वचन निकले हैं उनकी रमणीयता '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' ऐसी ही है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति मालूम हो, इसलिये हम भरद्वाजजीके भाषणके बिलकुल अन्तकी चौपाइयों (अर्धाली ३ से ६ तक) पर योग्य विचार करनेकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। '*सुनहु भरत''कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ।*' इसमें देखिये कि भरतजीकी स्तुति करते हुए भरद्वाजजीको प्रेमसमाधि लग गयी, फिर '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' कहनेमें कौन-सी हानि है?

२—'*कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस रामप्रेम मृगरूपा॥*' इति। भरद्वाजजीके भाषणमें कीर्त्तिचन्द्रका रूपक बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। इस चौपाईमें उस रूपकका हृदय है। भरतजीको चन्द्र बनाकर श्रीरामजीको उसमेंका मृग बना देनेसे रामकीर्ति गौण और भरतकीर्ति प्रमुख हुई। इस रूपकका भाव ऐसा देख पड़ता है कि दशरथादिकोंके यशचन्द्रसे श्रीरामजी भिन्न ही रह सकते थे, परन्तु वे भरत-यशचन्द्रसे भिन्न नहीं रह सकते। इतना ही नहीं किन्तु वे उसमें इतने निमग्न हो गये हैं कि उनका अब बाहर आना ही सम्भव नहीं। फिर भी विशेषता यह है कि वे उसके सामने बिलकुल ही फीके हो गये हैं।

☞ राम-भरद्वाज-संवादकी तुलना करनेपर जो सिद्धान्त निकलते हैं, वे बहुत ही बोधप्रद हैं। इसलिये उन्हें हम यहाँ देते हैं—

(क) भरद्वाजजीको रामजीने भक्तिका वर दिया—'*अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥''सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥*' (१०७। (८)-१०८। १) परन्तु उन्हें रामजी स्वयं भक्ति सिखला न सके। वह सिखलानेवाले उनके गुरु भरतजी ही हुए।

(ख) ईश्वरकी कृपा यहींतक समझना चाहिये कि उसको गुरु और संतसे भेंट होती है। इसके बादका कार्य उसके शक्तिके बाहर है। वह कार्य भक्ति है, और वह केवल संत और गुरुके ही कृपादानसे मिल सकती है। ईश्वर उनके माध्यमके बिना स्वयं नहीं दे सकते।

(ग) रामदर्शनकी अपेक्षा संतदर्शन ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि सत्सङ्गके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती।

३—'*रामभगत अब अमिय अघाहूँ।*''' इति। इस संवादमें गोसाईंजीने यह वाक्य दिया है—'*रामभगत अब*'''''। यहाँ इस '*अब*' शब्दसे तत्पूर्वकालमें भरतजीके प्रेमरूप अमृतका अभाव निर्दर्शित होता है। यह अभाव वाल्मीकि-रामायणमें स्पष्ट ही देख पड़ता है। इसलिये '*अब*' शब्दसे हमें ऐसी ध्वनि निकलती हुई मालूम होती है कि वाल्मीकि ही तुलसीदास हुए और उन्होंने अपनी रामायणकी भक्तिकी न्यूनताको हटा दिया।

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी॥ ७॥
दसरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥ ८॥
दो०—जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥ २०९॥

अर्थ—(आपके पूर्वज कैसे थे सो सुनिये) भगीरथजी महाराज गङ्गाको लाये, जिनका स्मरण करते ही सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलोंकी खानि प्राप्त हो जाती है॥ ७॥ दशरथमहाराजके गुणसमूह वर्णन नहीं किये जा सकते। अधिककी तो चर्चा ही क्या? जिनके समान भी संसारमें कोई नहीं है॥ ८॥ जिनके प्रेम और सङ्कोचके वश '**राम**' आकर प्रकट हो गये कि जिनको भगवान् शङ्करजी अपने हृदयके नेत्रोंसे कभी अघाकर नहीं देख पाये॥ २०९॥

नोट—१ ऊपर जो कहा था—'*कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ*', उसीपर अब दृष्टान्त देते हैं कि तुम्हारे कुलकी यह परम्परा चली आयी है। हमने मुँहदेखी-सी तुम्हारी बड़ाई नहीं की है। तुम्हारा कुल ऐसा ही उपकार करता आया है। भगीरथजी गङ्गाजीको लाये, वे आपसे न आतीं।

नोट—२ *'जासु सनेह सकोच बस'*—मनुप्रकरणमें स्पष्ट है। स्नेहवश, यथा—*'दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे॥ भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥'* (१। १४६। ७-८) *'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* सङ्कोच, यथा—*'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही॥'* (१। १४९। ८) *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* (१। १५०। २) यही सङ्कोच प्रकट करता है।

नोट—३ उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन करते जाते हैं। गङ्गासे श्रेष्ठ रामजी, श्रीरामजीसे श्रेष्ठ राममें प्रेम; क्योंकि वह रामभक्ति-रसायन सब दिन प्रत्यक्ष रहता है। गङ्गामें देशका नियम है, जहाँ हैं, वहाँ जाकर स्नान करे तब पावन हो और राममें कालका नियम है, क्योंकि ११ हजार वर्षके लिये वे प्रकट हुए; पर रामप्रेमके लिये देश-कालका नियम नहीं। महादेवजी हृदयके नेत्रोंसे ही ध्यान लगाये देखा करते हैं, तृप्त नहीं होते। आपने कीर्तिचन्द्रमाको प्रकट किया, जहाँ रामप्रेम नित्य प्राप्त है। (२१०। १) भी देखिये।

कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा। जहँ बस राम पेम मृगरूपा॥ १॥
तात गलानि करहु जिय जाए। डरहु दरिद्रहि पारसु पाए॥ २॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥ ३॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ ४॥
तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥ ५॥
भरत धन्य तुम्ह जस जगु जएऊ। कहि अस पेम मगन मुनि भएऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—**पेम**=प्रेम। **जएऊ**=जीत लिया—(सं० जयनूसे)=उत्पन्न किया—(रा० प्र०, पु० रा० कु०)

अर्थ—(और) तुमने कीर्त्तिरूपी अनुपम (उपमारहित, अनोखा, अनूठा) चन्द्रमाको उदित किया जिसमें रामप्रेमरूपी हिरन बसता है॥ १॥ हे तात! तुम व्यर्थ मनमें ग्लानि करते हो, पारसको पाकर भी दरिद्रतासे डरते हो॥ २॥ हे भरत ! सुनो, हम झूठ नहीं कहते (क्योंकि) हम विरक्त हैं, तपस्वी हैं और वनमें रहते हैं॥ ३॥* सब साधनोंका परमोत्तम फल श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका दर्शन (है सो) हमने पाया॥ ४॥ इस फलका चरम फल तुम्हारा दर्शन हुआ, प्रयागसहित यह हमारा सौभाग्य है॥ ५॥ हे भरत! तुम धन्य हो, तुमने अपनी कीर्त्तिसे जगत्‌को जीत लिया अर्थात् तुम्हारा-सा यश संसारमें किसीको प्राप्त नहीं हुआ† ऐसा कहकर मुनि प्रेममें मग्न हो गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा।'* इति। (क) एकने गङ्गाको प्रकट किया, दूसरेने उन्हींको प्रकट किया कि जिनसे गङ्गाकी उत्पत्ति है और तुमने यह कीर्त्तिचन्द्र प्रकट किया जिसकी उपमा है ही नहीं। यह कार्य उन दोनोंसे भी बढ़कर हुआ—२०९ देखिये। क्योंकि तुम्हारे कीर्त्तिचन्द्रमें रामप्रेमका नित्य निवास है, जैसे चन्द्रमामें मृगका, जिससे उसका नाम मृगाङ्क पड़ा। (ख) प्रेमका रङ्ग श्याम, मृगाङ्क श्याम। चन्द्रमा और मृगाङ्कका नित्य सम्बन्ध, वैसे ही तुम्हारी कीर्त्ति और रामप्रेमका नित्य सम्बन्ध। भाव यह है कि तुम्हारी कीर्त्तिके गानसे रामप्रेमकी प्राप्ति सब देशों और सब कालोंमें होगी, यथा *'भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं। सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति॥'* (३२६) यह विशेषता दोनों महाराजोंसे भी आपमें अधिक है। [लाञ्छनकी श्यामता ही प्रेम है। मृग वाहन है, जहाँतक चाहो ले जाओ—(खर्रा)। चन्द्रमा गगन-मण्डल अर्थात् एक बनी हुई दिशामें ही घूमता है, उनके वाहन ऐसे तेज नहीं हैं और रामप्रेम जो तुमपर है वह इस कीर्त्तिचन्द्रको पलमात्रमें चौदहों भुवनोंमें घुमानेवाला है। (वै०)]

---

* दूसरा समुच्चय अलङ्कार है।

† कारणमाला और सारकी संसृष्टि है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—भरतजीके कीर्त्तिचन्द्रमें उनका जो श्रीरामविषयक प्रेम है वही मृग है। उसी प्रेमको भरद्वाजजी पारस कह रहे हैं। यदि कोई शंका करे कि पूर्व तो कहा है—*'पूरब राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥'* तब यहाँ पुनः भरतजीके रामप्रेमको ही मृग कहनेसे पुनरुक्ति होगी; तो समाधान यह है कि पूर्वप्रसंगमें चन्द्रमाके सब अङ्गोंका रूपक ग्रन्थकारने भरतयशमें घटाया है। उस प्रसङ्गको समाप्त करके फिर दूसरा प्रसङ्ग भरतजीकी वंशावलीको उठाकर भरतजीकी कीर्तिकी बड़ाई की है—*'भूप भगीरथ''' मृगरूपा'* तक। अतः भरतप्रेमके दो प्रसङ्ग हैं—*'नव बिधु बिमल तात जस तोरा।'* और *'कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा।'* दो प्रसङ्ग होनेसे पुनरुक्ति नहीं है।

टिप्पणी—२ *'डरहु दरिद्रहि पारसु पाए'* इति। यहाँ रामप्रेम पारस और कलंक दारिद्र्य है, कलंकका शोच और डर है। पारस जिसके पास हो उसे दारिद्र्यका भय नहीं, क्योंकि वह तो जितना सोना चाहे उतना बना ले और सहज ही, लोहामें स्पर्श हुआ कि वह सोना हो गया। भाव यह कि इस रामप्रेमद्वारा जो-जो कलंक तुमको लग सकता है, वह सब सुवर्णवत् भूषणरूप हो गया। इससे यह भी जनाते हैं कि भरतजीके पास पारस है, पर वे भूले हुए हैं अथवा उसके गुणको भूले हैं। उसीको भरद्वाजरूपी जौहरी वा ज्योतिषीने बतला दिया।

नोट—१ *'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।'''* इति। झूठ नहीं कहते इसका कारण देते हैं कि हम उदासी इत्यादि हैं। हमारे शत्रु या मित्र नहीं, किसीके शत्रु हों और किसीके मित्र तो मित्रके लिये लोग झूठ बोल देते हैं। पुनः तपस्वी हैं। तपस्वियोंका एक नियम यह है कि झूठ न बोलें। उसपर भी हम वनमें रहते हैं, यहाँ बसनेसे हमें किसीका भय नहीं, किसीसे भोजन भी नहीं लेना; यहाँ स्वतः फल-फूल सब मिलते हैं; अतएव किसीसे झूठ बनाकर कहनेका प्रयोजन ही क्या? (मुं० रोशनलाल)

टिप्पणी—३ *'सब साधन कर सुफल सुहावा।''''''* इति। सर्व (चतुष्टय आदि) साधनोंका फल मुनि स्वयं श्रीरामजीसे कह चुके हैं—१०७ (५—७) देखिये। कौन-कौन साधन सफल हुए यह भी वहाँ कहे—तप, तीर्थ, त्याग, जप, योग, वैराग्य इत्यादि *'सकल सुभ साधन।'*—*'सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥'* [किसीका ऐसा मत है कि वहाँ तीन बार सुफल कहा—*'आज सुफल तप तीरथ त्यागू'*, *'आज सुफल जपजोग बिरागू'* और *'सफल सकल सुभ साधन साजू।'* प्रथम तप-तीर्थ-त्याग-कर्मकाण्डसे श्रीलक्ष्मणदर्शन, जप-योग-वैराग्य और उपासनाका फल श्रीसीताजीका दर्शन और सकल शुभ साधनका फल रामदर्शन।]

टिप्पणी—४ *'तेहि फल कर फलु''' ।'* फलका फल क्या है? फलका भोग करना। श्रीरामदर्शनरूपी फल मिला। उस फलका भोग है उनकी भक्ति करना, उनमें प्रेम करना। फल प्राप्त हुआ और उसे खाया नहीं तो वह फल निष्फल होता है। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें कैसा प्रेम करना चाहिये वह आपसे मिला। आपका दर्शन उनके दर्शनफलका भी फल है, आपने हमें दिखा दिया कि इस प्रकारसे भक्ति करनी चाहिये। उस फलका स्वाद हमको आपके द्वारा मिला, हमने जान लिया कि श्रीरामजी ऐसे प्रेमके वश हैं।

नोट—२ *'सहित पयाग सुभाग हमारा'* अर्थात् कुछ हम ही नहीं कृतार्थ हुए; किंतु प्रयाग जो दूसरोंको कृतार्थ करनेवाला है, स्वयं भी आपके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ मानता है। यह भागवतदर्शनका गौरव दिखाया। (रा० प्र०) भगवत्से भागवत अधिक है, यह सिद्धान्त यहाँ दिखाया, यथा—'**गीतादिस्तवपाठेन गोविन्दस्य च कीर्तनात्। साधोर्दर्शनमात्रेण कोटितीर्थफलं लभेत्॥ तिस्त्रः कोटयर्द्धकोटीश्च तीर्थानि भुवनत्रयम्। वैष्णवाङ्घ्रिजलात्पुण्यकोटिभागेन नो समः॥**' (स्कन्द० १-२) पुनः *'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।'* (१२०) (वै०)

वि० त्रि०—*'सुनहु भरत''''''सुभाग हमारा॥'* इति। भाव यह कि जो बात हम कहनेवाले हैं, उसपर एकाएक लोगोंका विश्वास न होगा, समझेंगे कि ठकुरसोहाती कहते हैं, स्तुति कर रहे हैं, परंतु ऐसी बात तो सांसारिक लोग करते हैं, जिन्हें दूसरोंसे भय या आशा रहती है, हम लोग तो निरपेक्ष हैं,

संसारको छोड़कर वनमें रहते हैं, हमें न किसीसे भय है और न आशा है, हमारा तो सत्य ही धन है, सत्यसे विचलित हों, तो तपस्या ही निष्फल हो जाय, यथा—'**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।**' सत्यमें प्रतिष्ठा होनेसे ही क्रियाके फलको आश्रय मिलता है, अत: जो मैं कहता हूँ उसमें मिथ्याका लेश भी नहीं है।

श्रीरामजीके दर्शनके महत्त्वसे बढ़कर किसीके दर्शनका महत्त्व हो नहीं सकता, क्योंकि जन्मका साफल्य तो उन्हींके दर्शनसे है, यथा—'*राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥*', सो मुझे प्राप्त हुआ, मैंने समझ लिया कि मेरे सब साधन सफल हो गये, यथा—'*आज सुफल तप तीरथ त्यागू। आज सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥*' (१०७। ५-६)

सो श्रीरामजीका दर्शन सब साधनोंका फल था, पर उस दर्शनका भी तो कोई फल होना चाहिये, वह स्वयं क्या निष्फल होगा? तो उसका फल तुम्हारा दर्शन है, क्योंकि तुम शरीरधारी रामप्रेम हो। (यथा—'*तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू*') तुम्हारी कीर्त्तिरूपी चन्द्रसे जगत्‌का इतना बड़ा उपकार हुआ, जितना न तो गङ्गाजीसे हुआ और न स्वयं रामावतारसे हुआ, तुम्हारे कीर्तिचन्द्रद्वारा सब देशमें, सब कालमें रामचन्द्रके प्रेमका दर्शन सुलभ हो गया। '**परोपकारकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दन:। गुर्वीमुपकृतिं मत्वा अवतारान् दशागृहीत्॥**' परोपकार और कैवल्य मोक्षको जनार्दनभगवान्‌ने तौला, तो परोपकारका पलड़ा भारी पड़ा, अत: उन्होंने दस बार अवतार धारण किया। सो तुम्हारा दर्शन भगवद्दर्शनका भी फल है।

तुम्हारे दर्शनसे मैं तो कृतार्थ हुआ ही, स्वयं तीर्थराज कृतार्थ हो गये। यथा—'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि**' (ना० सू०), '*सुरतीरथ ताहि मनावत आवत पावन होत हैं ता तन छै।*' (क० ७। ३४)

नोट—३ पूर्व कहा था कि '*राम तुम्हहिं अवलोकत आजू*' और यहाँ कहते हैं—'*लषन राम सिय दरसन पावा।*' दोनोंका समन्वय यों होता है कि वहाँ श्रीलक्ष्मण-सीताजी साथ थे। '*राम तुम्हहिं*' से तीनोंका भाव लेना चाहिये। जैसे वाल्मीकिजीने १४ स्थानोंमेंसे बहुत स्थानोंपर '*राम बसहु*' ही कहा, पर उससे तीनोंको सूचित करते रहे हैं और यहाँ वे तीनों सामने प्राप्त नहीं, इससे यहाँ तीनोंका नाम दिया।

नोट—४ '*भरत धन्य तुम्ह जगु जस जएऊ।*''' इति। (क) जगत्‌को अपने यशसे जीत लिया, यथा—'*तीन काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥*' (२६३। ६) (पं० रा० कु०) तुमने जगत्‌में यश (कीर्तिचन्द्र) को उत्पन्न किया। (रा० प्र०) धन्य अर्थात् तुम धन्य हो, सुकृती हो, पुण्यवान् हो, तुम्हारा जीवन सफल है इत्यादि। (ख) '*कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ*' अर्थात् यश कहते-कहते प्रेमकी समाधि लग गयी—'**यतो वाचो निवर्तन्ते**' चरितार्थ हुआ। (श्रीजामदारजी २०९। ४—६ देखिये)

टिप्पणी—५ इस प्रकरणका उपक्रम '*नवबिधु बिमल तात जस तोरा।*' (२०९। १) और उपसंहार यहाँ '*भरत धन्य तुम्ह जगु जस जएऊ*' है।

मा० हं०—'भरतचरित्रका उत्तर रंग तुलसीदासजीके भाव और भाषारूपी जादूगरीका एक अपूर्व दृश्य है, जिसमें प्रवेश करते कुशल-बुद्धिको भी बिलकुल विवश होना पड़ता है, इस समझसे यहाँ भरतचरित्रके उत्तर रंगका अल्प-सा दिग्दर्शन करा देते हैं। रामजी प्रभृति महानुभावोंपर भरतजीके विचार और आचारका जो परिणाम होता रहा उसका वर्णन इस भागमें है। थोड़े ही यत्नसे देखनेपर इस परिणामका मूलतत्त्व रामजी और भरतजीकी परस्पर कृतज्ञताकी भावनाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, यही प्रतीत होगा। पश्चात् ऐसा विदित होगा कि उसी भावनाके कारण रामजी और भरतजीके सभी परस्पर व्यवहारोंको वे परस्परोंका ऋण समझते गये और उस ऋणके उत्तीर्णतामें (रामजी और भरतजी) परस्परोंको प्रकाशमें लाते गये। सारांश इस भागमें भरतजी और रामजीका परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार ध्वनि-प्रतिध्वनि, क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा पदार्थ और उसकी छाया ऐसे ही प्रतीत होते जाते हैं। यही इस उत्तर रंगका अद्भुत रस है, जिससे पाठकोंको केवल मन्त्रमुग्धता प्राप्त होती है।

हमारे कथनकी सत्यता जिसे देखनी हो उसे विशेष करके भरत-भरद्वाज-संवादसे आलोचना करनी

चाहिये। हमारी दृष्टिसे स्वामीजीने इस संवादकी रचना भरतजीके वनचरितकी प्रस्तावना समझके ही की है, जिससे कि राम-भरतजीके आगामी चरित्रोंपर प्रकाश होता जावे। इस संवादमें उन्होंने रामजीका जगत्कर्तृत्व और भरतजीका जगद्गुरुत्व इन दोनों गोप्यचरित्रोंका प्राकट्य बड़े ही प्रेममें मग्न होकर कर दिया, जिसके कारण सारे संसारको उन्होंने चिरंतन उपकृत कर रखा है।

प्रस्तुतमें हमें भरतजीके जगद्गुरुत्वसे ही प्रयोजन है। इसलिये उसीका विचार यहाँ किया जायगा। भरतजीकी प्रशंसा भरद्वाजजीने इस प्रकार की है—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥' 'तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* इसमें भरद्वाजजीने भरतजीको रामजीसे भी अधिकतर मान्यवर समझा है और इसी कारण उन्होंने उनकी (भरतजीकी) निम्न प्रकारसे दीक्षा ली-सी दिखाती है—*'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।''''*

सुनि मुनि बचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥७॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा॥८॥
दो०—पुलक गात हियँ रामु सिय सजल सरोरुह नयन।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बयन॥२१०॥

शब्दार्थ—**सभासद**=जो सभामें सम्मिलित हो और जिसे वहाँ बोलनेका अधिकार हो, सदस्य, सामाजिक लोग।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर सब सभासद् प्रसन्न हुए, साधुवाद (शाबाश-शाबाश, धन्य हो, धन्य हो, सत्य है, सत्य है) द्वारा सराहना करके देवताओंने फूल बरसाये॥ ७॥ आकाश और प्रयागमें 'धन्य-धन्य' का शब्द सुन-सुनकर भरतजी प्रेममें मग्न हैं ॥ ८॥ शरीरमें पुलकावली हो रही है, हृदयमें श्रीसीतारामजी हैं, कमल-समान नेत्रोंमें जल भरा है—मुनिमण्डलीको प्रणाम करके वे गद्गद वचन बोले॥ २१०॥

नोट—१ *'सुनि मुनि बचन सभासद हरषे।'* (क) चारों वर्णाश्रमके लोग वहाँ एकत्रित थे, ये वे ही हैं जिनका आना पूर्व कहा जा चुका है। यथा—*'प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥'* (२०६। १) वे ही *'सभासद'* हैं। (पु० रा० कु०) हर्षका कारण मुनिका सत्य भाषण, उसमें भी विशेषतः *'सहित पयाग सुभाग हमारा'* और *'धन्य तुम्ह जस जगु जएऊ'* ये अन्तिम वचन हर्षके कारण हुए। इस हर्षसे *'सहित पयाग सुभाग'* को उन्होंने सत्य कर दिखाया, मुनिके वचनोंकी दाद दी। देवताओंने भी फूल बरसाकर मुनिके वचनोंकी सत्यता प्रकट की। बैजनाथजी सभासद्से केवल मुनिसमाजको लेते हैं—'सत् महात्माओंकी सभा भक्तिरस-साने वचन सुनकर प्रसन्न हुए।'

(ख) 'साधु-साधु' इस पदका व्यवहार किसीके बहुत उत्तम कार्य करनेपर किया जाता है। यथा—*'मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥'* (१। १८५। ८) *'सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥'* (१२६। ७) *'स्तुति सुनि मन हर्ष बढ़ायो। साधु साधु कहि सुरन सुनायो॥'* (सूर) वही *'सबके मन माना'* वाला भाव यहाँ है।

नोट—२ *'धन्य धन्य धुनि गगन पयागा।''''* इति।—आकाशमें देववृन्द और प्रयागमें सभी लोग जो वहाँ थे, वे सब-के-सब धन्य-धन्य कह रहे हैं; अतएव पृथ्वीसे आकाशतक ध्वनि फैली है। भरतजी इसे प्रभुकी कृपा समझ उनके प्रेममें मग्न हो जाते हैं—प्रभु धन्य हैं कि मुझ-से अपराधीको बड़ाई दिला रहे हैं। उनको किंचित् अहंकार नहीं हुआ—(पं०)। प्रेममें मग्न हैं (वह दशा दोहेमें दिखाते हैं), इसीसे गद्गद वचन बोले, कण्ठ भर आनेसे स्पष्ट वचन नहीं निकलते।

मुनि समाजु अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू॥१॥
एहि थल जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥ २॥
तुम्ह सर्बग्य कहउँ सतिभाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥३॥

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहि दुखु जियँ जग जानहि* पोचू॥ ४॥
नाहिन डरु बिगरहि† परलोकू। पितहु मरन कर मोहि‡ न सोकू॥ ५॥

अर्थ—मुनियोंके समाज और (उसपर भी) तीर्थराज प्रयाग (ऐसे स्थल) में सच्ची कसम भी खानेसे भरपूर अनर्थ होता है॥ १॥ फिर यदि इस स्थानपर कुछ झूठ बनाकर कहा जाय तो इसके समान कोई बड़ा पाप और नीचता या अधर्म न होगा॥ २॥ मैं सत्य भावसे कहता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं और रघुराई श्रीरामजी हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं अर्थात् यदि मैं झूठ कहूँ तो आपसे और श्रीरामजीसे छिप नहीं सकता$ ॥ ३॥ मुझे माताकी करनीका सोच नहीं, जीमें इसका भी दुःख नहीं कि संसार मुझे पोच (नीच, बुरा) समझेगा॥ ४॥ न इसका ही डर है कि मेरा परलोक बिगड़ जायगा और पिताके भी मरनेका मुझे शोक नहीं॥ ५॥

नोट—१ *'मुनि समाजु अरु तीरथराजू।'''''* इति। भाव कि सत्य शपथ करनेसे ही जब भरपूर अनिष्ट वा अकल्याण होता है तो झूठ भाषणमें न जाने क्या होगा? उसके समान पाप और अधर्मका अनुमान भी कोई नहीं कर सकता। और यहाँ दोनों मौजूद हैं—मुनियोंका समाज भी है और तीर्थराज भी।

पु० रा० कु०—१ (क) अकाज यह कि और किसीकी शपथसे दोनोंका अपमान होता है। उससे सिद्ध होता है कि शपथ करनेवालेने इनको कुछ समझा ही नहीं। (ख) किसी ब्राह्मणसे भी झूठ न बोलना चाहिये, फिर भला मुनिसमाजमें उसपर भी तीर्थ और तीर्थ ही नहीं तीर्थोंके राजाके यहाँ तो शपथ ही न करना चाहिये। *'एहि सम अधिक'*=न इसके समान कोई पाप है और न इससे बड़ा$$। *'अघ अधमाई'* दो शब्द देकर लोक-परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाला इससे बढ़कर नहीं है, यह जनाया। अघसे परलोक नष्ट हुआ, नरकमें पड़ा और इस लोकमें अधर्मी कहलाया। इसपर भी आप सर्वज्ञ हैं। बनाकर कहें भी तो उससे जो जान न सके और जिससे झूठ छिप नहीं सकता उससे कैसे कोई बात बनाकर कहेगा। अतएव सच्चे भावसे कहता हूँ, इसे आप जान सकते हैं। और रहा अन्तःकरणमें कपट तो नहीं है, यह *'रघुराऊ'* जानते हैं, वे अन्तर्यामी हैं।

नोट—२ मुनिने कहा था *'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* उसीको लक्ष्यकर भरतजीने ये वचन कहे। उन्होंने अपने सत्य-भाषणमें तीन कारण दिये—उदासीनता, तपस्या और वनवास। इन्होंने भी तीन अथवा एक और अधिक कारण दिये—मुनि समाज और तीर्थराज, तुम्ह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी रघुराऊ। वहाँ *'हम झूठ न कहहीं'* यहाँ *'जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥'* विशेषता यहाँ यह भी है कि मुनिने कहा था कि हम 'झूठ' नहीं बोलते और आप कहते हैं कि 'सत्यकी शपथ' भी करना हम पाप समझते हैं। मुनिने जो-जो कहा सबका उत्तर यहाँ दिया है।

मुनिके वचन	उत्तर
गलानि जनि करहु समुझि मातु करतूति	*मोहि न मातु करतब कर सोचू।*
तुम्हार अलप अपराधू कहइ सो अधम०	*नहिं दुख जग जानहि पोचू।*
तुम्हार बिमल जस गाई पाइहि लोकहु०	*नाहिन डरु बिगरहि परलोकू।*
रामगवन बन अनरथमूला	*पितहु मरन कर नाहिन सोचू।*

बै०—*'जो बोवै सो काटै'* अतः माताकी करनीका शोच नहीं, उसका पुत्र मानकर कोई बुरा कहे तो उसकी भी चिन्ता नहीं। माताके सम्बन्धसे नरक जाना पड़े इसका डर नहीं, प्रभुकी इच्छा ही होगी। पिताका शोच नहीं क्योंकि श्रीसीतारामजी माता-पिता बने हुए हैं—परमार्थ देशमें।

---

* जानिहि—गी० प्रे०।

† बिगरिहि—गी० प्रे०।

‡ पाठान्तर—नाहिन।

$ परिकराङ्कुर अलङ्कार है।

$$ वा, यथासंख्यसे—'पहलेके समान और इससे बड़ा'-(खर्रा)

सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥ ६॥
राम बिरह तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥ ७॥
राम लषन सिय बिनु पगपनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं॥ ८॥
दो०—अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥ २११॥

शब्दार्थ—'**छनभंगू**' (क्षणभंगुर)=क्षण या पलभरमें नष्ट होनेवाला। 'भंगुर'=भंग होनेवाला, नाशवान्। '**अजिन**'=छाल,कृष्णमृग और व्याघ्र आदिका चर्म, वल्कल।

अर्थ—उनका सुन्दर पुण्य और सुयश लोकोंमें भरपूर सुशोभित हो रहा है* (कि उन्होंने) श्रीराम-लक्ष्मण-सरीखे पुत्र पाये और श्रीरामचन्द्रजीके विरहमें इस नाशवान् शरीरको छोड़ दिया (अतएव) राजाके लिये शोच करनेकी बात या चर्चा ही क्या?॥ ६-७॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी बिना जूतीके, मुनिवेष बनाये हुए वन-वनमें फिर रहे हैं॥ ८॥ वल्कलवस्त्र पहने, फल खाते, पृथ्वीपर कुश और पत्ते बिछाकर सोते और वृक्षोंके नीचे बसकर नित्य ही जाड़ा-पाला, गर्मी, वर्षा और पवन (के झँकोरे) सहते हैं॥ २११॥

नोट—१ *'लछिमन राम सरिस।'* यहाँ अपनेको नहीं कहते; क्योंकि अपनेको तो *'महीं सकल अनरथ कर मूला।'* (२६२। ३), *'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू।'* (१७९। ५) कहते हैं। पुनः, उन्होंने आज्ञा मानी, मैंने आज्ञा न मानी, तो मैं कैसा पुत्र! मुनिजीने तो केवल 'रामजी' को कहा था, इन्होंने लक्ष्मणजीको भी कहा। यह विशेषता है। शत्रुघ्न अपने अनुगामी हैं इससे उनको भी न कहा। बैजनाथजीका मत है कि *'सरिस'* पदसे चारोंको कह दिया—'लक्ष्मण-सरिस शत्रुघ्न, राम-सरिस भरत'—पर यह अर्थ सुसङ्गत नहीं है।

नोट—२ *'भूप सोच कर'''*' इति। *'कवन प्रसंगू'* का भाव कि जीते-जी यश रहा, मरनेपर भी 'सत्यप्रेम' आदिका यश पाया। यथा—*'बंदौं अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥'* (१। १६) और शरीर तो एक-न-एक दिन छूटता ही, अतः मृत्युका भी सोच क्या? मिलान कीजिये *'सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।'* (१७२। २) से *'सब प्रकार भूपति बड़भागी।'* (१७४। १) तक। वही सब भाव यहाँ लगा लीजिये। *'छनभंगु सरीरा'*—(१९०) (३) देखिये। यहाँतक बताया कि हमारे सोचका जो कारण आप समझते हैं वह नहीं है।

नोट—३ *'राम लषन सिय बिनु पगपनहीं'''।'* इति। (क) अब बताते हैं कि हमें क्या सोच है, क्या दुःख है। एक अर्धाली और दोहेमें इसे कहकर फिर कहा है—*'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।'* पवन तीनों ऋतुओंकी दुःखद होती है, इसीसे अन्तमें 'बात' पद दिया अर्थात् जाड़ा-पालाकी हवा, गर्मीकी लू और वर्षाकी झकोरें, जिसमें बूँदें बर्छी-सी देहमें लगती हैं। वा, (ख) हिममें जाड़ा-पाला, ग्रीष्ममें तीक्ष्ण घाम और वर्षामें जल। (वै०)

एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥ १॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥ २॥
मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बँसूला॥ ३॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि† पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥ ४॥
मोहि लगि यहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सबु जगु बारहँ बाटा॥ ५॥
मिटइ कुजोगु राम फिरि आएँ। बसइ अवध नहिं आन उपाएँ॥ ६॥

* दूसरा अर्थ—'उनके पुण्य और सुयशसे भरकर सब लोक सुशोभित हो रहे हैं।'
† पाठान्तर—'अवध'।—(भ० दा०)।

शब्दार्थ—'**दिन**'=प्रतिदिन, नित्यप्रति। '**बँसूला**'=बढ़ईका एक औजार जिससे वह लकड़ी काटता, छीलता और बनाता है। '**कलि**'=कलह, आपसकी फूट या बिगाड़। '**कुजंत्र**'=बुरा यन्त्र, बुरी खूँटी, अभिचार, टोटका। 'बारह घाट घालना वा करना'—(यह मुहावरा है)=भिन्न-भिन्न करना, तितर-बितर या नष्ट-भ्रष्ट कर देना, यथा—*'लंक असुभ चरचा चलति हाट बाट घर घाट। रावन सहित समाज अब जाइहि बारह बाट॥'* (रामाज्ञाप्रश्न सर्ग ५। ३७) *'राज करत बिनु काजहीं ठटहिं जे ठाट कुठाट। तुलसी ते कुरुराज ज्यौं जैं हैं बारह बाट॥'* (दो० ४१७) '**बाट**'=रास्ता। '**घालेसि**'=कर डाला, चलाया, फेंका, यथा—*'केहिके बल घालेसि बन खीसा।'*

अर्थ—इसी दुःखकी जलनसे नित्य मेरी छाती जलती है, न दिनमें भूख (लगे) न रातमें नींद (आवे)॥ १॥ इस कुरोगकी दवा नहीं, मैंने अपने मनमें सारा ब्रह्माण्ड खोज डाला॥ २॥ माता (कैकेयी) का कुमत (बुरा विचार, बुरा मन्तव्य) पापका मूल (अर्थात् बड़ा पापी वा पापकी जड़) बढ़ई है। उसने हमारे हितको अपना बसूला बनाया॥ ३॥ और कलहरूपी कुत्सित (बबूर-बहेड़ेकी) लकड़ीका कुयन्त्र बनाया और कठिन कुमन्त्र पढ़कर अवधमें अवधिभरके लिये उस 'जोग' को गाड़ दिया॥ ४॥ उसने वह सब कुठाट मेरे लिये सजा और सारे संसारको 'बारह बाट किया'॥ ५॥ यह कुयोग श्रीरामचन्द्रजीके लौट आनेसे ही मिटेगा और तभी अयोध्या बस सकती है, दूसरे किसी भी उपायसे नहीं बस सकती॥ ६॥

नोट—१ *'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।'''* इति। छातीका जलना इससे समझते हैं कि न तो भूख ही लगती है और न नींद ही आती है। अन्तःकरणमें गर्मी होनेसे ऐसा होता ही है। यहाँ दिखाते हैं कि भरतजी श्रीरामजीके दुःखमें दुःख मानते हैं और उनके सुखमें सुख। इसीसे कहते हैं कि *'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'* साधारण रोग हो जिससे भूख न लगे, नींद न पड़े तो दवा भी हो जाय, पर यह असाध्य है; क्योंकि वनमें रहनेपर उनको सुख मिल नहीं सकता और हमारा दाह जा नहीं सकता।

वि० त्रि०—*'अजिन बसन''''''नीद न राती'''मनमाहीं।'* इति। भरतजी भी जो कहनेवाले हैं, उसपर भी सहसा सामान्य लोगोंका विश्वास न होगा। अतः वे शपथ लेकर कहते हैं कि आपने माताकी करतूत तथा मेरे कलंकका निराकरण किया तो उन बातोंका मुझे सोच नहीं है। मेरे ऊपर जो बीते मुझे मंजूर है। अपयश होनेसे यह लोक बिगड़े, पिताका वचन न माननेसे परलोक बिगड़े, इसका भी मुझे डर नहीं है। मेरा कलेजा तो राम-जानकीके दुःखको समझकर जला जाता है।

इस संसारमें अन्न-वस्त्रका दुःख सबसे बड़ा दुःख है। जाड़ा-गर्मी-बरसातसे अपनेको बचानेके लिये दीन-हीन प्राणी भी उपाय करता ही है। रात्रिके विश्रामके लिये उसे भी टूटी खाट मिल ही जाती है, पर मेरे प्रभुको आज इन सब वस्तुओंका घाटा है। रूखा तथा कठिन स्पर्श मृगचर्म पहनते हैं, कटु कषाय वन्यफल खाते हैं, रातको कुश और पत्तोंपर सोते हैं। गर्मी, सरदी और बरसातसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। यह दुःख मुझे बड़ा भारी है। इसकी दवा नहीं है। सारे विश्वमें मन दौड़ाया, कहीं ठहरता नहीं।

भाव यह कि मुझे तो मिला नहीं, सम्भव है कि आप-जैसे महात्माके पास हो, इसी बातको लक्ष्य करके महात्मा भरद्वाजने कहा कि *'तात करहु जनि सोच बिसेषी। सब दुख मिटिहि राम पद देखी॥'*

नोट—२ यहाँ शत्रुदमन अभिचार-प्रयोगका रूपक बाँधा गया है। वह उत्सादन या उन्मादन प्रयोग है। 'अभिचारकल्पसूत्र' एवं तन्त्रशास्त्रमें प्रयोगोंका विवरण है। बैजनाथजीने विस्तृत रूपसे दिया है—'उन्मादन-यन्त्रकी रीति यह है कि शत्रुके अनिष्टके लिये निकृष्ट मासमें जब कृष्णपक्षकी षष्ठी, अष्टमी, रिक्ता आदि तिथि, भरणी, श्लेषा आदि कुत्सित नक्षत्र, शनि या मङ्गलके दिन, वज्रादि कुत्सित योग, विष्टि आदि कर्ण, क्रूरग्रहयुक्त लग्न, सम्मुख योगिनी और चन्द्रमा पृष्ठपर हों तथा जब शत्रुके सूर्य-चन्द्रादि ग्रह घातक हों, तब (ऐसे मुहूर्तमें भिलावाँ अथवा बहेड़ेकी लकड़ीका कोल्हू बनवाकर और शत्रुके पैरोंके नीचेकी मिट्टी लेकर उसका पुतला बनाकर प्राणप्रतिष्ठा करके उसकी छातीमें शत्रुका नाम लिखकर उस पुतलेको कोल्हूमें दबाये। फिर 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ओं नमो भूतनाथाय अमुकस्य

मर्दय मर्दय छेदय छेदय उच्चाटय उच्चाटय उन्मादनं कुरु कुरु ओं हुं फट् स्वाहा' इस (पूर्व ही सिद्ध किये हुए) मन्त्रको १०८ बार पढ़कर उपर्युक्त मुहूर्तके समय पृथ्वीमें गाड़ दे तो इससे शत्रु शीघ्र ही विनाशको प्राप्त हो जायगा।

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि तन्त्रविद्यामें एक प्रयोग होता है कि अमुक नक्षत्रमें नंगे होकर बहेड़ेकी लकड़ी ले आवे फिर उस लकड़ीकी खूँटी बनाकर उच्चाटन-मन्त्र पढ़कर जहाँ गाड़ दे वहाँके निवासी वहाँसे भाग जाते हैं और वह स्थान उजाड़ हो जाता है। इसी प्रयोगका रूपक यहाँ है।

किसीका मत है कि उत्सादन-यन्त्र बनाकर शत्रुके पुरमें गाड़ते हैं। बबूल आदि कुकाष्ठका यह यन्त्र बनाते हैं। शत्रु और जिसका शत्रु है, दोनोंके पुतले मुहूर्त्त विचारकर मन्त्रित करके बनाये जाते हैं। रातको गड्ढा खोदकर (शत्रुके पुरमें) उसको उसमें लिटाकर दूसरे पुतलेको उसके ऊपर चढ़ा हुआ खड़ा करते हैं, जो शत्रुकी छाती बर्छीसे छेदता है। इस रीतिसे स्थापित कर मिट्टीसे तोप देते हैं।

अ० दी० कारका मत है कि यन्त्र बैरकी लकड़ीका बनाया जाता है, जिससे उजाड़ होता है और गूलरकी लकड़ीकी कील बनानेसे पुनः बस जाता है। अथर्ववेदान्तर्गत 'अभिचारकल्पसूत्र' में अभिचारक्रियादिके विवरण लिखे हैं और हिंसामूलक यागादि क्रिया तन्त्रमें मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण—षट् प्रकारके अभिचारोंका उल्लेख है। इन अभिचारोंके करनेवाले दण्डनीय करार दिये गये हैं। वि० टीकाकारका मत है कि यहाँ उच्चाटन अभिचारसे कविका अभिप्राय है। जिससे उन्मादन उत्पन्न हो लोगोंके चित्त अस्थिर हो जायँ।

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि '(क) श्रीरामजीका अवधसे उच्चाटन करना यहाँ हेतु है। उच्चाटनमें काष्ठकी भी आवश्यकता नहीं रहती। भोजपत्रादिका भी उपयोग किया जाता है। अभिचारप्रयोग रामनाममन्त्र, वैदिक मन्त्रोंसे भी हो सकते हैं। कोई भी मन्त्र सिद्ध होनेपर अभिचारप्रयोग-विध्यनुसार करनेसे काम मन्त्रोंसे भी सिद्ध होते हैं—रामार्चनचन्द्रिका देखिये। *'बसइ अवध नहिं आन उपाए'* से भी उच्चाटन-प्रयोग ही सूचित किया है। ऐसे प्रयोगोंका दुष्ट परिणाम ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिपर, उसकी इच्छा न हो तो, हो ही नहीं सकता, प्रत्युत प्रयोग करनेवालेपर ही वह प्रयोग उलटता है। भागवत दशम स्कन्धमें ऐसा उल्लेख है। यह प्रयोग कैकेयीपर ही उलट पड़ा है।'

नोट—३ *'मातु कुमत''''उपाए'* इति। (क) प्रयोगके लिये पहले प्रयोगकर्ता चाहिये। यहाँ कैकेयी प्रयोगकर्त्री है। लकड़ी काटने, पुतला बनाने आदिके लिये बढ़ई चाहिये। यहाँ कैकेयीका कुमत जो पापका मूल है वही बढ़ई है। बढ़ई पुँल्लिङ्ग है, इसीलिये दुर्बुद्धिके लिये *'कुमत'* पुँल्लिङ्ग शब्द किया है। उसका कुमत *'परउँ कूप तुअ बचन लगि सकौं पूत पति त्यागि'* (२१)। उसके ये वचन हैं। (पं० रा० कु०)। श्रीभरतजीके लिये राज्यका विचार करना चाहे पति मर ही क्यों न जायँ यही दुर्बुद्धि है। भरतजीने भी कहा है—*'पापिनि सबहि भाँति कुल नासा। जौं पै कुरुचि रही अति तोही॥'''जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ।''बर माँगत भइ नहिं पीरा॥'* यह दुर्बुद्धि सारे पापकी जड़ है। अतः उसे बढ़ई कहा, क्योंकि वही कोल्हू और पुतला आदि बनाता है, जिससे प्रयोगका आरम्भ होता है। बढ़ई बसूलासे लकड़ीको गढ़ता है। यहाँ *'हमार हित'* बसूला है अर्थात् राज्यसे भरतका हित होगा, भरतको राज्य मिले इससे भरतको सुख होगा—यह जो कैकेयीने सोचा था यही बसूला है। कुयन्त्र और पुतला भिलावा, बहेड़ा आदि कुत्सित काष्ठका बनाया जाता है। यहाँ *'कलि'* अर्थात् कलह, यथा—*'नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥'* (२१। १) *'होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न रामु बन जाहिं। मोर मरन राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥'* (३३) कैकेयीने यह जो दुर्भाव प्रकट किया है यही कुकाठ है। (श्रीनंगे परमहंसजीके मतानुसार राज्य कुकाठ है। पर उन्होंने *'कलि'* का अर्थ नहीं दिया है। अर्थमें उस शब्दको छोड़ दिया है।) बसूलेसे उस कुकाष्ठको गढ़कर कोल्हू अथवा पुतला आदि कुयन्त्र बनाया जाता है। यहाँ 'हमार (भरत) हित' को लेकर जो कैकेयीने भरतके लिये राज्य माँगनेका निश्चय किया (नं० प०), अथवा जो

क्यों? उत्तर—श्रीजानकीजी सब भागवतोंके लिये आचार्यारूपा हैं और केवल आचार्यकी कृपा ही कल्याणका मूल कारण है। वनवासमें भाइयोंकी अपेक्षा इनको बहुत क्लेश हुए होंगे। यह भय रहा होगा (रा० प्र०)। अथवा, मैं ही उनके पति तथा उनके वनवासका कारण हूँ, मेरे ही कारण उन्होंने पतिके साथ वनका कष्ट झेलना स्वीकार किया और दुःख सह रही हैं, इत्यादि समझकर वे मुझसे अप्रसन्न होंगी, यह आशंका थी।

नोट—२ *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि·········'* इति।—इस प्रसङ्गमें आदि, मध्य, अन्त तीनोंमें 'केवट' पद कविने अपने वाक्योंमें दिया है। डूबतेको केवट बचाता है। आदिमें प्रभुकी वेदिका आदिका दर्शन 'केवट' ने कराया, यथा—*'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥'*; फिर मध्यमें ***'मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम'*** और यहाँ अन्तमें *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि।'* श्रीरामजीसे मिलनेमें भी—'केवट' से मिलना कहा अर्थात् श्रीरामजीको यही सावधान करेगा। ये तीनों शब्द पूज्य कविके हैं। यह पद आदिमें ही देकर इस भावका सूक्ष्म बीज वहीं बो दिया था। केवट अधीर हो जाय तो नाव डूब ही जाय, उसका धैर्य धारण करना अत्यावश्यक है। डूबतेको बचानेवाला, डूबेको निकालनेवाला केवट ही हो सकता है, यदि धीर हो। अतएव जहाँ सब मग्न हैं वहाँ इसीका धीरज धरकर बोलना कहा। श्रीजनकमहाराजकी सभा भी जब स्नेहमें डूबी तब वहाँपर नदीका ही रूपक दिया है, यथा—***'सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की। तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥'*** (२७६) तब ***'धीरज धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन'।*** यहाँके 'केवट' पदसे भी वैसा ही रूपक समझना चाहिये। यहाँ चारों भाई स्नेहनदीमें डूब रहे हैं, उनको सहारा देकर नदीके पार करना यह काम 'केवट' का है। इतना ही नहीं, सब अवधवासी शोकसिन्धुमें डूबे हैं, उनके शोकको भी दूर करनेका उपाय कर रहा है, इससे भी केवट ही बड़ा उपयुक्त शब्द है।

नोट—३ *'नाथ साथ मुनिनाथ कें·········'* इति। सब लोग तो भरतजीके साथ आये हैं पर यहाँ मुनिनाथके साथ आना कह रहे हैं—यह केवटकी चतुरता है, राजा ही तो ठहरा। ऐसा कहनेसे मुनिका नाम सुनते ही प्रभु उस प्रेमसागरसे तुरंत निकल आवेंगे, भरतके प्रेमसे निकलकर माता-परिजन-पुरजन सबको ले आनेके लिये सावधान होंगे, सबके दुःख दूर करेंगे (पां०)। पुनः वसिष्ठजी इस समय दशरथजीके स्थानपर हैं, अतः यह कहना उचित ही है कि उनके साथ आये हैं। उनके रहते राजकुमारके साथ आना कहना अनुचित था। दूसरे इस समय भरतजी श्रीरामजीके पास चले आये हैं और वे लोग इस समय वसिष्ठजीके साथ हैं ही (पु० रा० कु०)। देखिये गुरु, परिजन, सभी इसे लक्ष्मण-समान मानते आये; यह भी रामजीसे सबको मिलानेमें लक्ष्मणजीका काम कर रहा है।

वि० त्रि०—*'तेहि अवसर·······करि'* इति। बड़ी सावधानी रखी गयी है कि चक्रवर्तीजीके देहावसानका समाचार रघुनाथजीको वसिष्ठजीकी अनुपस्थितिमें न लगने पावे। नहीं तो उन्हें सँभालेगा कौन! जब वे सुनेंगे कि मेरे विरहमें चक्रवर्तीजीने प्राण दिया उस समय उन्हें सँभालनेके लिये गुरुजीकी आवश्यकता है और सावधान होते ही कुशल-मङ्गल पूछनेका अवसर आवेगा। तब क्या कहा जायगा? अतः निषादराज गुरुजीके साथ माताओंके आगमनका समाचार पूरी तरह स्वस्थ होनेके पहिले ही निवेदन करता है।

सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ १॥
चले सबेग रामु तेहि काला। धीर धरमधुर दीनदयाला॥ २॥
गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ ३॥
मुनिबर धाइ लिए उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥ ४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥ ५॥

अर्थ—शीलसमुद्र श्रीरामजीने गुरुका आगमन सुनकर शत्रुघ्नजीको सीताजीके पास रखा॥ १॥ उस समय

जाता है उसका घरभर नष्ट-भ्रष्ट होता है। (ख) यह यन्त्र चक्रवर्ती महाराजके पुरमें गाड़ा गया, ये सम्राट् हैं, अतएव *'सब जग बारह बाटा'* कहा। यथा—*'मिथिला अवध बिसेषि तें जग सब भयउ अनाथ॥'* (२७०) यह पंजाबीजीका मत है। बैजनाथजी लिखते हैं कि यन्त्र अयोध्यामें गड़ा, अयोध्या सारे जगत्‌का मस्तक है और महाराजका धर्म उसमें दबा है, पर उसमें राम सम्बन्ध है और राम सब जगत्‌के आत्मा हैं, अतएव सब जग दुःखमें पड़ा।'—ये दोनों मत **'मोहं दैन्यं····'** आदि जो बारह बाट आपदाके कहे गये उसके अनुकूल सङ्गत हैं।

नोट—४ *'सब जग बारह बाट हुआ'* यह मुहावरा है, बोलचालमें ऐसा कहते ही हैं। इससे सारी दुनियाँका आशय नहीं लिया जाता, उससे वही जनसमुदाय, जहाँतक कि अपना सम्बन्ध है, अभिप्रेत होता है। कुल, परिजन, प्रजा, पुर आदि और सभी सम्बन्धी इसमें आ गये। जैसे मुहावरा है **'आप मरे तो** जग मरा।' दीनजीका भी यही मत है—'मनुष्यका संसार वहींतक है जहाँतक उससे सम्बन्ध रखनेवालोंकी सीमा है' और यह भाव उनके अर्थके अनुकूल है। इसकी पुष्टि चौपाईके चौथे चरण *'बसइ अवध नहि आन उपाए'* से भी होती है। एवं—*'अवध उजार कीन्ह कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥'* (२९।८)

☞ *'घालेसि सब जग बारह बाटा'* इति। 'बारह बाट करना' मुहावरा है नष्ट-भ्रष्ट करनेका। परंतु यहाँ दूसरा भाव 'बारह मार्गोंमें कर डाला या बारह मार्गोंसे नष्ट किया' इस अक्षरार्थके लेनेसे भी निकलता है, जैसा पूर्व *'कीन्ह कैकई सब कर काजू।'* (१८०।५) में दिखा आये हैं। कुछ लोगोंने १२ की संख्या (जिससे लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं) यों कही है—(क) **'मोहो दैन्यं भयं ह्रासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथाकीर्तिर्वाटो ह्येते हि द्वादशः॥'**

उसीको सोरठेमें यों कहा है—*'दैन्य मोह भय ह्रास, छुधा लोभ पीड़ा मरन। हानि गलानि पियास अपजस बारह बाट ये॥'* और इनके उदाहरण राजा-रानी, परिजन-प्रजामें स्थल-स्थलसे देते हैं। रामायणी श्रीरामसुन्दरदासजी कहते हैं कि इस भावके अनुसार—१ मोह, २ दीनता, ३ हानि, ४ ग्लानि अवधवासियोंको, ५ भय रावणको, ६ ह्रास जनक महाराज आदिको, ७-८ क्षुधा-प्यास लक्ष्मण-जानकीको, ९-१० क्षोभ देवताओंको, मृत्यु महाराजको, ११ व्यथा कुबरी आदिको और १२ अकीर्ति कैकेयीको प्राप्त हुई। उदाहरणक्रमसे ये हैं—१—*'कछुक देवमाया मति मोई।'* (८५।६) २—*'राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं।'* (८६।२) *'मनहु कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि।'* (८६) ३—*'मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू।'* (८६।३) *'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।'* (९९।८) *'मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी।'* (१५८।८) ४—*'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥'* (१४४।४) *'निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥'* (८६।५) ५—*'दसमुख बोल उठा अकुलाना।'* (६।५।१०) *'कुसगुन लंक।'* ६—*'भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू॥'* (२७०) *'राम बिमुख सुख सपनेहु नाहीं।'* ७—*'जलको गये लष्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह धरीक ह्वै ठाढ़े····।'* (क० ३।१२) ८—*'पुर ते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दए मगमें डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गए अधराधर वै। फिर बूझति हैं चलनोब किते····।'* (क० ३।११) ९—*'कह गुरु बादि छोभु छल छाँडू। यहाँ कपट करि होइहि भाँडू'* ११—*'कूबर टूटेउ फूट कपारू'* १२—*'राम राम कहि राम कहि राउ गयउ सुरधाम'* १—*'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥'* (३६।५)

(ख) काष्ठजिह्वा स्वामीका मत है कि 'मन, बुद्धि और दस इन्द्रियाँ ये पूर्ण आत्माके बारह बाट हैं। जब ये बिखर जाते हैं, मालिकके ताबे नहीं रहते तब जन्म-जन्म खराब होते हैं! इनको समेटकर भले मार्गमें लगा देनेको रामजीके चरणोंका दर्शन ही समर्थ है, योग ज्ञान आदिक नहीं।' और बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि राशि बारह हैं। संसारके सब जीव इन्हीं राशियोंमें हैं। इन राशियोंपर नवग्रहका प्रयोग सदा होता रहता है। यही बारह बाट हैं, जिनमें जीव पड़े सुख-दुःख भोगते हैं। (शीलावृत्त)

☞ इन टिप्पणियों और पाद-टिप्पणियोंसे केवल यही आशय समझना चाहिये कि 'बारह बाट जाना' मुहावरेकी व्युत्पत्ति क्या है। अर्थ तो केवल यही है कि सर्वनाश किया, सबको दुःख दिया।

नोट—५ *'मिटइ कुजोगु राम फिरि आए।'''* इति। *'कुजोगु'*=बुरी अवस्था, बुरा संयोग। यन्त्र-प्रयोग होनेपर यदि कोई पण्डित इस विद्यामें प्रयोगकर्त्तासे भी अधिक कुशल हों और उसका उखाड़ना जानते हों तो ऐसा करनेपर वह प्रयोग निष्फल हो जाता है और दुःख नष्ट हो जाता है। यहाँ किसी प्रकारसे श्रीरामजी लौटें तो दुःख दूर हो, उजाड़ा हुआ अवध बसे। इससे यह भी सूचित होता है कि 'यन्त्रका गाड़ना' श्रीरामजीको वनको भेज देना ही है और श्रीरामजीका वनसे लौटकर आना उसका उखाड़ना है तो इसका कोई उपाय क्यों नहीं करते? इसका उत्तर पूर्व आ गया—*'एहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥'* शोधना आगे फिर कहना है, यथा—*'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥'''अवसि फिरहिं गुर आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥ मातु कहेहु बहुरहि रघुराऊ। राम जननि हठि करबि कि काऊ॥ मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥ जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर गिरि तें गुरु सेवक धरमू॥ एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥'* (२५३। २—७) इससे यहाँ नहीं कहा। यहाँ प्रत्यक्ष मुनिसे वर नहीं माँगा, जैसे दरबारमें आशीर्वाद माँगा था तो भी अभिप्राय कथनका यही है कि आप कृपा करके आशीर्वाद दें कि वे लौटें, यह कुयोग मिटे, अवध बसे।

मा० म०—इस दोहेमें कील (का गाड़ना) और उत्कील (कीलका उखाड़ना) दोनों दिखाये। गाड़नेसे उजड़ना और उखाड़नेसे सुख-सम्पादन होता है। यहाँ *'कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥'* यह गाड़ना है और उसका फल *'घालेसि सब जग बारह बाटा'* यह उजाड़ना है। और, *'मिटइ कुजोग राम फिरि आए'* यह उत्कील है; उसका फल *'बसइ अवध'''* यह सुख-सम्पादन है।

प० प० प्र०—*'भरत भरद्वाज संवाद'* इति। इस संवादमें श्रीभरतजीकी महत्ता और उनके रामप्रेमका जो निदर्शन किया गया है इसकी जोड़का एकाङ्गी अनन्यप्रेमके लिये किसी भी ग्रन्थमें तुल्यवर्णन न मिलेगा। चातकका अनन्य प्रेम भी इनके राम-प्रेमके आगे फीका पड़ जाता है। इसका सार-सर्वस्व *'मोहि न मातु करतब कर सोचू'* (२११। ४) से *'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'* (२१२। २) तक और *'मिटइ कुजोग राम फिरि आए।'* में कह दिया गया है। इन वचनोंपर टीका-टिप्पणी लिखना असम्भव बात है। अमृतके स्वादका बखान कौन कर सकेगा? बस, उसका आस्वादन लेकर उस भक्तिरसामृतमें मत्त, मग्न होना ही कर्तव्य है।

भरत बचन सुनि मुनि सुख पाई। सबहिं कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥७॥
तात करहु जनि सोचु बिसेषी। सब दुख मिटिहि राम पग देखी॥८॥
दो०—करि प्रबोधु मुनिबर कहेउ अतिथि पेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु॥२१२॥

शब्दार्थ—**'प्रबोधु'**=पूर्ण बोध, सान्त्वना, आश्वासन, दिलासा।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर मुनियोंने सुख पाया, सभीने उनकी बहुत तरहसे बड़ाई की॥७॥ (भरद्वाजजी बोले—) हे तात! तुम इतना अधिक शोच मत करो। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका दर्शन पाते ही सब दुःख दूर हो जायगा॥८॥ खूब ढाढस देकर मुनिश्रेष्ठने भरतजीसे कहा कि आप हमारे प्रेमके प्यारे अतिथि बनें और हम कन्द, मूल, फल, फूल जो कुछ दें उसे कृपा करके स्वीकार करें॥२१२॥

नोट—१ यह निमन्त्रण भरतजीके *'भूख न बासर नींद न राती'* इन वचनोंकी परीक्षा भी है। २१५ में देखिये।

नोट—२ *'सब दुख मिटिहि राम पग देखी'* इति। (क) भरतजीने पूर्व दरबारमें कहा था कि *'बिनु*

देखे रघुबीरपद जिय कै जरनि न जाइ।' (१८२) यहाँ मुनि उसी बातका आशीर्वाद दे रहे हैं कि श्रीरामचरणारविन्दके दर्शन होते ही सब 'दुखदाह' जो नित्य छाती जला रहे हैं मिट जायेंगे। इस आशीर्वादकी सफलता आगे हुई—*'हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारस पायेउ रंका॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥'* (२३८। ३-४) और अन्तमें 'चरणपादुका' पाये जिनसे साथका-सा सुख मिला। (पु० रा० कु०) भरद्वाजमुनिने 'फिरि आने' का आशीर्वाद नहीं दिया। वे सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि लौटेंगे नहीं, इससे आश्वासनमात्र किया। जो होना है उतना ही कहा (पं०)। (ख) चरणदर्शनसे निषादराज, विभीषणजी, कोल-भील, कबंध, केवट, अहल्या आदि सभीके दुःख मिटे? क्रमसे उदाहरण ये हैं—*'नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयउँ भाग भाजन जन लेखे॥'* (८८। ५) (गुह), *'अब हम नाथ सनाथ सब भये देखि प्रभु पाय।'* (१३५) (कोल-किरात), *'दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद देखि मिटा सो पापा॥'* (आ० ३३) (कबन्ध), *'अब पद देखि कुसल रघुराया। जो तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'* (५। ४६), *'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि रामपद कमल तुम्हारे॥'* (५। ४७) (विभीषण), *'नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥'* (१०२। ५) (केवट), *'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।'''।'* (१। २११) (अहल्या), और भरतजीमें विशेषता यह है कि चरण-अङ्क ही देखकर दुःख मिट गये।

नोट—३ *'अतिथि पेमप्रिय होहु'* इति। (क) भगवत्-भागवत दोनोंको प्रेम ही प्रिय है, यथा—*'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।'* हम आपकी पहुनाई-मेहमानी करनेके योग्य नहीं, हमारे पास एक प्रेम ही है, इसीको अतिथिरूपसे स्वीकार कीजिये। (पु० रा० कु०) अथवा, (ख)—'प्रिय' को सम्बोधन मानकर यों अर्थ करते हैं—'हे प्रिय! हमारे प्रेमके अतिथि हो'। (रा० प्र०) भाव कि हम प्रेमसे देते हैं, प्रीतिदानमें दोष नहीं है, अतः इसे लो।

नोट—४ मुनिने कन्द-मूल, फल-फूल देनेको कहा पर किया सामान कैसा। इसे झूठ बोलना नहीं कहना चाहिये। यह शिष्टाचार है। ऐसा कथन बड़े लोगोंकी रीति है। (पं०) अथवा, दूसरे *'हम देहिं'* का अर्थ यह कर लें कि कन्द आदि तो शिष्य लावेंगे और मैं भी कुछ दूँगा; सब स्वीकार कीजिये। हम बहुवचन है। शिष्य और मैं सब उसमें आ गये।

सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू। भयेउ कुअवसर कठिन सँकोचू॥ १॥
जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी॥ २॥
सिर धरि आयेसु करिअ तुम्हारा। परम धरम येहु नाथ हमारा॥ ३॥

शब्दार्थ—'गरुइ' (गुर)=भारी महत्त्वपूर्ण।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर श्रीभरतजीके हृदयमें सोच (चिन्ता) हुआ कि बुरे बेमौके बड़ा संकोच आ पड़ा है॥ १॥ फिर गुरुकी वाणीको गौरवकी समझकर वे चरणोंको प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—॥ २॥ हे नाथ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके करना, यह हमारा सबसे बड़ा धर्म है॥ ३॥

नोट—१ *'सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू।'''* इति।—सोचका कारण कि *'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत नेम ब्रत राम हित परिहरि भूषन भोग'*—यह हम लोगोंका व्रत है। दूसरे यह तीर्थस्थल है। यहाँ हम क्षत्रिय होकर ब्राह्मणका अन्न कैसे लें। पर यह भाव शिथिल है, क्योंकि सहस्रार्जुन और कौशिक आदि भी तो क्षत्रिय राजा थे। किसीने ऐसा संकोच नहीं किया। आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करना पाप नहीं है, यह समझकर उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार किया। [दैवयोगसे परिणाम अनिष्ट हुए यह बात दूसरी है। (प० प० प्र०)] तीसरे, श्रीरामजी तो भोगविलासको छोड़ वनमें कन्द-मूल-फल खाएँ, हम महर्षिकी मेहमानी स्वीकार करें, क्या यह उचित है? इत्यादि। और दूसरी ओर यह अंदेशा कि आज्ञा न मानें तो मुनिको बड़ा दुःख होगा, मुनिकी अवज्ञा होगी। सेनाभरके लिये उनको प्रबन्ध करनेमें कष्ट होगा। महर्षि और ब्राह्मणको कष्ट देना

उचित नहीं है। ऐसा ही संकोच सहस्रार्जुन और विश्वामित्रको हुआ था जब, महर्षि जमदग्निने सहस्रार्जुनसे और वसिष्ठजीने कौशिकजीसे आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करनेको कहा था। पर पुनः कहनेपर उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। यही कहा कि—'**यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुङ्गव॥**' (वाल्मी० १।५२।१९) मुनिश्रेष्ठ जैसी आपकी रुचि है आप वैसा ही करें।

नोट—२ *'जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी।'''* 'इति।—*'बहोरी'* अर्थात् पुनर्विचार करनेपर कि जैसे कौशिक विश्वामित्र राजकुमारने ससैन्य वसिष्ठजीका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण किया, सहस्रबाहुने जमदग्निजीका तथा हमको इनका आतिथ्य-सत्कार स्वीकार ही करना चाहिये—'**गुरोराज्ञा गरीयसी।**' जैसे संकोच कठिन वैसे ही यहाँ गुरु-आज्ञागुरु, दोनोंमें यह विशेष भारी है। महर्षिकी कामनाको पूरी करना धर्म है, ऐसा समझकर आतिथ्यसत्कार स्वीकार किया।

नोट—३ (क) *'सिर धरि आयेसु'''* ' ये पूरी अर्धाली ज्यों-की-त्यों बा० ७७ (२) में है। वहाँ शिवजीने यही शब्द प्रभु श्रीरामचन्द्रजीसे कहे हैं। वही भाव यहाँ भी ले सकते हैं—*'कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥'* (१—४) वहाँ *'प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना'*, यहाँ *'भरत बचन मुनिबर मन भाये॥'* इनसे सङ्कोच भी जना दिया और गुरुके वचनकी गुरुता भी।

(ख) पूर्व जो विचार और संकोच था वह धर्म था और गुरु-आज्ञा मानना परमधर्म। (पु० रा० कु०)

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी वही चौपाई यहाँ पुनः दुहरानेका कारण यह लिखते हैं कि—'देवलोकमें सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीशिवजी हैं। वे देवाधिदेव महादेव जिसको अपना पूज्य मानें उसकी सर्वश्रेष्ठतामें तो कोई कोर-कसर ही नहीं रह सकती। श्रीशिवजीका वाक्य श्रीरामजीसे है कि आपकी आज्ञामें उचित-अनुचित, कार्याकार्य, विकार्य आदिका विचार करना महान् अधर्म है। अतः *'सिर धरि'''* '। इसी तरह मनुष्योंमें सर्वश्रेष्ठ राजा है, यथा—'**नराणां च नराधिपः**'; क्योंकि वह *'ईश अंश भव परम कृपाला'* है, और विरक्त तपस्वी, विरक्त ब्राह्मण राजासे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्राह्मण भगवान्‌की मूर्ति ही है। यथा—'**अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।**' (गर्गसंहिता), *'मम मूरति महिदेवमई है'* (हि०)। कुटुम्बी विप्र राजासे वर्णानुसार आंशिक श्रेष्ठ है—और विरक्त तपस्वी विप्रवर्ण एवं आश्रम सर्वप्रकारेण राजासे सर्वथा श्रेष्ठ है। अतएव भरतजीने महर्षिके सत्कारको स्वीकार करते हुए कहा—*'सिर धरि'''* '। इसपर यदि कहा जाय कि शिवजीने तो आज्ञाका पालन किया, पर भरतजीने तो कहा भर किंतु उनकी दी हुई वस्तु अपने शारीरिक व्यवहारमें न लाये। तो उत्तर यह है कि शिवजीको आज्ञा दी गयी कि *'जाइ बिबाहहु सैलजहि'* और शिवजीने जाकर विवाह किया। और महर्षिकी आज्ञा थी कि *'कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु।'* *'लेहु'* कहा और भरतजीने ले लिया। बस, इतनी ही तो आज्ञा थी। पुनः कहा तो था कि हम *'कंद मूल फल फूल'* देते हैं और दिया क्या?—*'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।'* अतः भरतजीने लिया तो पर उनको व्यवहारमें नहीं लाये। ☞ निष्कर्ष यह कि देवलोकमें जैसे भगवान् श्रीराम सर्वश्रेष्ठ हैं वैसे ही परलोकमें विरक्त तपस्वी ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है, इसीसे दोनों जगह एक ही चौपाई रखी गयी।'

इसी तरह *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* यह चौपाई ८८ (२) और १११ (७) में आयी है। ८८ (२) में यह वाक्य शृङ्गबेरपुर राजधानीके निवासियोंका है और १११ (७) में वही ग्रामवासिनियोंका है। नगरके लोग सभ्य होते हैं, उनमें बनावट बहुत होती है, उन्हें मर्यादाका बड़ा ध्यान रहता है। ग्रामीण भोले-भाले सरलस्वभाव होते हैं। ये अपरिचितके साथ भी आत्मीयताका व्यवहार करते हैं। यद्यपि नागरिक और ग्रामीणके व्यवहार भिन्न-भिन्न हैं तथापि श्रीरामजीके लिये दोनोंमें प्रेम एक ही तरहका है। इसीसे दोनोंके मुखसे एक ही तरहके शब्द निकलते थे।

'उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥' यह तीसरी चौपाई है जो इस काण्डमें १२३ (२) में और आ० ७ (३) में आयी है। यहाँ *'सिय सोहति'* है और अरण्यमें *'श्री सोहइ'* केवल इतना अन्तर है।

श्रुतियोंमें ब्रह्म, जीव और प्रकृति—ये तीन तत्त्व अनादि बताये गये हैं—**'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्।' 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोग्यामजोऽन्यः॥'** इत्यादि। प्रकृति-तत्त्वका प्रसिद्ध पर्याय 'माया' है **'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।'** (इति श्रुतिः)। सूक्ष्म और स्थूल-भेदसे प्रकृतिकी दो अवस्थाएँ हैं। माया सदा ब्रह्मके पीछे ही रहती है; परंतु जीवसे स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही अवस्थाओंमें प्रबल रहती है। अतएव वह जीवके आगे ही रहती है। श्रीसीताजी प्रकृति माया नहीं हैं, वे तो ब्रह्मसे अभिन्नविग्रहा हैं। लक्ष्मणजी भी जीव नहीं हैं, किंतु क्षीराब्धीश शेषाधिप शेषशायी हैं। ('मानससिद्धान्त' देखिये) श्रीरामजी ब्रह्म हैं। उनके अवतारकालमें उस चिन्मयानन्दविग्रहमें माधुर्यैश्वर्यका सम्मिश्रण होकर ही लीलाका प्रदर्शन होता है। बाल और अयोध्याकाण्डकी लीलाएँ मुख्यतः माधुर्यमय हैं, जहाँ ऐश्वर्यव्यंजक लीलाएँ हैं वहाँ साथ-ही-साथ माधुर्यका पुट भी देखनेमें आता है। 'सिय' और 'लषन' दोनों नाम माधुर्यके हैं जो इन्हीं दो काण्डोंमें आये हैं। अरण्यकाण्डमें ऐश्वर्यद्योतक 'श्री' नाम और यहाँ 'सिय' दिया, क्योंकि ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों दशाओंमें (लीलाके समय) श्रीजानकीजी सदैव श्रीरामजीके पीछे, लक्ष्मणजीके आगे वैसे ही रहती हैं जैसे कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओंमें अचित् (माया) ब्रह्मके पीछे (ब्रह्मके अधीन) और जीवके आगे (जीवपर प्रबल) रहती है। यही वेदवेद्यतत्त्व इसमें निहित है, जिससे कि दोनों जगह एक ही चौपाई केवल एक शब्दके परिवर्तनके साथ हैं।*

भरत बचन मुनिबर मन भाए। सुचि सेवक सिष निकट बोलाए॥ ४॥
चाहिअ कीन्हि भरत पहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई॥ ५॥
भलेंहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाए। प्रमुदित निज निज काज सिधाए॥ ६॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिअ जस देवता॥ ७॥
सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई। आएसु होइ सो करहिं गोसाईं॥ ८॥

अर्थ—भरतजीके वचन मुनिश्रेष्ठके मनको अच्छे लगे। उन्होंने पवित्र सेवकों और शिष्योंको पास बुलाया॥ ४॥ और कहा कि भरतजीकी मेहमानी करनी चाहिये! जाकर कन्द-मूल-फल लाओ॥ ५॥ 'हे नाथ! 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन्होंने माथा नवाया और बड़े आनन्दपूर्वक अपने-अपने कामको चल दिये॥ ६॥ मुनिको चिन्ता हुई कि मेहमान तो बड़ा भारी नेवता है (निमन्त्रित किया है), जैसा देवता हो वैसी ही उसकी पूजा चाहिये। अर्थात् भरतजी बहुत बड़े अतिथि हैं, उनके योग्य उनका सत्कार होना चाहिये॥ ७॥ यह (मुनिका सोच) सुनकर अणिमा आदि सिद्धियाँ और ऋद्धियाँ आयीं और कहने लगीं कि हे गोस्वामी! जो आज्ञा हो सो हम करें॥ ८॥

नोट—१ *'सुचि सेवक सिष निकट बोलाए।'* शुचि सेवक और शुचि शिष्य। शिष्य जो चेले हैं और सेवक वे हैं जो सेवा करते हैं, शिष्य नहीं हैं। ☞ विदित हो कि पहले ऋषि तुरत ही किसीको चेला नहीं कर लेते थे। सेवाद्वारा कठिन परीक्षा लेकर तब कहीं शिष्य जो विद्या पढ़ते थे वा जो मन्त्र पाये थे, दोनों कहलाते हैं। शुचि जो आज्ञा न टालें, यथा—*'करइ स्वामि हित सेवक सोई' 'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'* (२६९। ५), *'भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी॥'* (४। २३। ४)।—१८६ (६), १८७ देखिये।

* पूर्व भी इस विषयपर लिखा जा चुका है। १२३ (१—४) में देखिये।

नोट—२ *'कंद मूल फल आनहु जाई।''''* इति। जो स्वयं खाये वही देव, पितर आदिको देना चाहिये। अतः कन्दादि मँगाये। श्रीरामचन्द्रजीने पिताका मरण सुनकर उनको इंगुदी और बेरके फलसे ही पिण्डदान करते हुए कहा है—'**इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्। यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः॥**' (वाल्मी० २। १०३। ३०) महाराज प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन कीजिये, क्योंकि हम लोगोंका यही भोजन है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं। पर यह भी न्याय है कि जैसा देवता हो वैसी भेंट-पूजा देनी चाहिये, पात्र देखना भी उचित है। यह समझकर मुनि सोचमें पड़ गये। चक्रवर्ती राजकुमारका ससैन्य निमन्त्रण है, उनको फल-मूल क्या दें, यह तो तपस्वियोंके ही योग्य है, राजाओंके योग्य नहीं। इनके सोचको देखकर सिद्धियाँ आयीं!

नोट—३ *'प्रमुदित निज निज काज सिधाए।'*—गुरु एवं स्वामीकी आज्ञामें हर्ष होना ही चाहिये। *'सुचि सेवक'* यहाँ चरितार्थ है। *'निज निज'* अर्थात् जो जिसको कार्य सौंपा गया। कोई कन्द, कोई फल, कोई मूल इत्यादि लेने गये, जो जिसकी पहचानमें कुशल थे।

नोट—४ *'सुनि रिधि सिधि'* में *'सुनि'* शब्दसे जान पड़ता है कि मुनिने उनको बुलाया, आज्ञा सुनकर वे आयीं—दोहा २१४ में देखिये। श्रीनंगे परमहंसजी भी आवाहन करके ऋद्धि-सिद्धिको बुलाना कहते हैं और लिखते हैं कि शङ्का की जाती है कि 'मुनिजीका बुलाना कैसे माना जाय?' इसका समाधान यह है कि 'जब कर्ता मुनिजी लिखे गये हैं—*'मुनिहि सोचु पाहुन बड़ नेवता'* और क्रिया भी मुनिजीके लिये लिखी है कि सुनिके मुनिके पास सब आयीं। सुनिके आना क्रिया है तब बोलाना कर्म है, उस कर्मके कर्ता मुनिजी होंगे, क्योंकि यह नियम है कि जब क्रिया लिखी है तब कर्मका अध्याहार लेकर अर्थ किया जाता है। बिना कर्मके क्रिया कैसे सिद्ध होगी? सिद्धियोंका बुलाना जो कर्म है वह भरद्वाज मुनिका है।'

वाल्मी० २। ९१ में लिखा है कि मुनिने विश्वकर्मा आदिका आह्वान किया कि वे सब आतिथ्य-सत्कारमें सहायता करें और अ० रा० में कामधेनुका स्मरण किया है। इत्यादि सबके मतोंकी रक्षाके लिये कविने यहाँ केवल *'सुनि'* शब्द दे दिया। मुनिके ध्यान करते ही सब देवता आ गये—'**मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः। आजग्मुस्तानि सर्वाणि देवतानि पृथक् पृथक्॥**' (२। ९१। २३) इसके अनुसार आह्वान सुनकर ऐसा अर्थ होता है। अथवा, ऋद्धि-सिद्धि सदा मुनिजीके आश्रममें उपस्थित रहती थीं कि कभी हम लोगोंको सेवाका सौभाग्य प्राप्त हो, पर मुनिजीने कभी सेवा नहीं ली। जब सब सेवक-शिष्य कन्द-मूल-फल लेने चले, तो उनसे पूछा तो मालूम हुआ कि मुनिजीको भरतजीकी पहुनाईकी चिन्ता है। यह सुनकर उन्होंने विचारा कि आज हम लोगोंको सेवाका सौभाग्य मिल जायगा, अतः आज्ञा माँगने मुनिजीके पास आयीं कि हम लोगोंको जो आज्ञा हो वह हम करें। आगे कहेंगे कि *'रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहिं अनुमानी॥'* (वि० त्रि०) मुनिका शोच तब मिटा और वे 'मुदित हुए' कि अब योग्य आतिथ्य-सत्कार होगा।

'सिद्धि'—२। १। ३ एवं बा० २२ (४) देखिये। ऋद्धि-सिद्धि गणेशजीकी दासियाँ मानी जाती हैं। दोनोंका एक ही अर्थ होता है, ऋद्धिके अनेक नाम हैं—संपदाह्वया, योग्या, सिद्धि, लक्ष्मी इत्यादि।

दो०—राम बिरह ब्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम कहा मुदित मुनिराज॥ २१३॥

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥ १॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई॥ २॥
मुनिपद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राजसमाजू॥ ३॥

शब्दार्थ—'अतुलित'=जिसकी तुलना या समताका दूसरा न हो, अद्वितीय, बेजोड़।

अर्थ—मुनिश्रेष्ठने प्रसन्न होकर कहा कि छोटे भाई शत्रुघ्नजी और समाजसहित भरतजी श्रीरामजीके विरहसे व्याकुल हैं। उनकी मेहमानी (आतिथ्य-सत्कार) करके उनके श्रमको दूर करो॥ २१३॥ ऋद्धि-सिद्धियोंने मुनिश्रेष्ठके वचनको शिरोधार्यकर अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा॥ १॥ सब सिद्धियाँ आपसमें कहती हैं कि श्रीरामजीके छोटे भाई अद्वितीय मेहमान हैं॥ २॥ मुनिके चरणोंकी वन्दना करके आज वही करना चाहिये जिससे सब राज-समाज सुखी हो॥ ३॥

नोट—१ ***'कहा मुदित मुनिराज'*** इति। प्रथम सोच बड़ा था वह दूर हुआ अतः, ***'मुदित'*** पुनः, संत पराये सुखसे सुख मानते हैं, भरत ससमाज सुखी होंगे यह समझकर सुखी हुए। (पं०) भरत राजा और ये मुनिराज, राजाका अतिथि-सत्कार राजा ही खूब कर सकता है।

२ ***'बड़भागिनि आपुहि अनुमानी'*** से जनाया कि इनकी सदैव यह लालसा रहती थी कि मुनि हमें कुछ आज्ञा दें, हमारी ओर देखें पर इस दरबारमें सदा अनादर ही रहा, आज हमें सेवाका मौका हाथ लगा। (प्र० सं० में लिखा था कि और आज अपनेसे ही बुलाया।) पुनः, भागवतशिरोमणि धर्मधुरन्धर रामानुज ऐसे अतुलित अतिथिका सत्कार करनेको मिला। अतएव अपने बड़े भाग्य मानती हैं। ***'सिर धरि'*** से आज्ञापालन स्वीकार करना जनाया।

३ ***'अतुलित अतिथि राम लघु भाई।'''*** इति। यह दीपदेहरी-न्यायसे दोनों ओर लगता है। इसीसे अपनेको बड़भागिनी माना। और इसीसे अपना संकोच भी प्रकट करती हैं कि इनके योग्य हम समृद्धि एकत्र कर सकेंगी? श्रीरामजी उस राज्यको तिनकेकी तरह छोड़ गये जिस 'अवधराज' को ***'सुरराज सिहाहीं'***। उनके ये भाई हैं। पुनः, इन्होंने भी उसे त्याग दिया, ऐसे वैराग्यवान् हैं। ऐसे बड़े भारी मेहमान हैं। हमारी सेवासे सुखी हो सकेंगे यह सन्देह है, ये सुखी हों तो हमारा बड़ा भाग्य है। इसीसे उन्होंने मुनिके चरणोंकी वन्दना करके कार्य प्रारम्भ करनेकी ठानी, उनके चरणोंके प्रतापसे राजसमाजको सुखी कर सकें। (वै०, रा० प्र०)

मा० म०—मुनि भरतजीका प्रेम यथार्थ न जान पाये, नहीं तो इतना तूल न करते। क्योंकि रामविरहका ताप पहुनाईसे नहीं शमन हो सकता और संसारी सुख भक्तको सुखी नहीं कर सकता; यथा—***'रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'*** (३२४।८) परंतु सिद्धियोंने जान लिया। इसीसे उन्होंने कहा कि रामानुज अतुलित अतिथि हैं। पुनः कहा कि ***'मुनि पद बंदि करिअ सोइ आजू। होहि सुखी सब राजसमाजू॥'*** तात्पर्य कि भरतजीका तोष करना तो दुर्लभ है, परंतु समाज सुखी हो सकता है।

अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥ ४॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहिं अमर अभिलाषे॥ ५॥
दासी दास साजु सब लीन्हे। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हे॥ ६॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं॥ ७॥
प्रथमहिं बास दिये सब केही। सुंदर सुखद जथा रुचि जेही॥ ८॥

शब्दार्थ—'बिलखाहिं'=रोते हैं, झखमारते हैं, लज्जित होते हैं। पुनः, 'बिलखाहिं' (वि=अंतर+लखाहिं=दिखते हैं)=अलग दिखते हैं, बेढंगे दिखते हैं। इसका संस्कृतरूप विलक्षण है'। (वि० टी०) विमान (विमान)=वायुयान; सतखण्डे महल। (श० सा०)के ही=किसीको, को।

अर्थ—ऐसा कहकर उन्होंने अनेक सुन्दर घर रचकर बनाये, जिन्हें देखकर विमान भी लज्जित होते हैं॥ ४॥ और उनमें बहुत-सा भोग और ऐश्वर्य भर रखा जिन्हें देखकर देवता उनकी इच्छा करने लगे॥ ५॥ दास और दासियाँ सब तरहकी सामग्री लिये हुए लोगोंके मनसे मन लगाकर उनके मनको ताकते रहते हैं (कि जिसकी जो रुचि हो वही बिना माँगे हम दे दें)॥ ६॥ जो सुखका सामान देवलोकमें

स्वप्नमें भी नहीं है, वह सब सामान सिद्धियोंने पलभरमें उत्पन्न कर दिये॥ ७॥ सबके पहले सब किसीको सुन्दर, सुखदायक और जिसको जैसी रुचि थी वैसे ही निवासस्थान दिये॥ ८॥

नोट—बिलखाहिं अर्थात् अपनेको तुच्छ मानते हैं। वे घर खाली नहीं हैं, भोग-पदार्थसे भरे हैं जिन्हें देवताओंने कभी देखा भी नहीं; अतः वे ललचाते हैं कि हम भी समाजमें जा मिलें जिसमें हमें भी नसीब हों। स्वयं कवि कहते हैं—'*जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं।*'

दो०—बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयेसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह॥ २१४॥

अर्थ—फिर भरतजीको कुटुम्बसहित मुनिने यह आज्ञा दी (जो ऊपर औरोंके लिये कह आये कि पहले सबको निवासस्थान दिये अब इनको निवासस्थानमें ठहरनेकी आज्ञा दी।) ब्रह्माको भी आश्चर्यमें डालनेवाला ऐश्वर्य मुनिश्रेष्ठने अपने तपोबलसे किया॥ २१४॥

नोट—१ ऋद्धि-सिद्धि सेवा करनेवालोंने समाजको घरोंमें रहनेको कहा और भरत राजा हैं अतएव इनको स्वयं मुनिराजने महलमें चलकर ठहरनेको कहा।

नोट—२ मयङ्ककार कहते हैं कि '*आयेसु*' शब्दका अर्थ निमन्त्रण है। भोजनार्थ निमन्त्रणके लिये अवधप्रान्तमें 'आयसु' बोलते हैं। यहाँ '*रिषि*' वसिष्ठजी और '*मुनिबर*' भरद्वाजजी हैं। वसिष्ठजीने आयसु दिया कि 'मुनिने तुमलोगोंके सम्मानार्थ विधिविस्मयदायक विभव तपबलसे किया है।'

नोट—३ बाबा हरिहरप्रसादजी यों अर्थ करते हैं—'फिर ऋद्धि-सिद्धियोंने कुटुम्बसहित भरतजीको निमन्त्रण दिया कि जैसा भरद्वाज ऋषिने दिया था कि प्रेमके अतिथि हूजिये, यह कन्द-मूल-फल लीजिये, यद्यपि मुनिबरने तपबलके प्रभावसे विधिविस्मयदायक विभव रचा था। भाव यह कि विनम्र भावसे यही कहा कि यह फल-फूल है, लीजिये। '*आयेसु*' का निमन्त्रण अर्थ पं० शिवलाल पाठकजी एवं पं० रामकुमारजीने भी लिखा है।

भरद्वाजगुरु वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरद्वाजजीने त्वष्टा विश्वकर्मा, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक आदिकी अप्सराओं, नदियों, चित्ररथ आदि वनों, इत्यादिका आवाहन किया। वे सब आये। बीस कोशतक वैदूर्यमणिकी भूमि रच गयी……।' महर्षिकी आज्ञा पाकर रत्नोंसे भरे घरमें मन्त्री पुरोहितसहित भरतजी गये।—'**प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा। वेश्म तद्रत्नसंपूर्णं भरतः कैकयीसुतः॥**' (३६) तदनन्तर भरद्वाजकी महिमासे वहाँ तेजस्वी गन्धर्वराज, अलम्बुशी, मिश्रकेशी आदि अप्सराएँ गाने-नाचने लगीं, बेलके वृक्ष मृदंग बजाते, इत्यादि वैभव प्रकट हुआ।……स्वप्नके समान अद्भुत, महर्षिका किया हुआ आतिथ्य देख सभी विस्मित हो गये।—(सर्ग ९१)

इसके अनुसार भी ये दोनों अर्थ बहुत खींचे हुए और असङ्गत जान पड़ते हैं। आज्ञा महर्षि भरद्वाजने घरमें ठहरनेकी दी और अपने तपोबलसे उनके लिये ऐसा विभव एकत्र कर दिया।

नोट—४ मयङ्ककार—भरद्वाजजीको सेवक, शिष्य और सिद्धियोंकी पहुनाईमें सन्देह ही रहा। क्योंकि प्रथम सेवक शिष्योंको आज्ञा दी। फिर विचार किया कि इससे पूरा न पड़ेगा तब ऋद्धि-सिद्धियोंको बुलाया। जब देखा कि इनसे भी उनके योग्य सामग्री नहीं हो सकी तब अपने तपोबलसे विधिविस्मयदायक वैभव उत्पन्न किया। तथापि भरतने दुःखसे ही रात गँवाई। इससे सिद्ध हुआ कि भरतकी पहुनायी किसीसे न हो सकी। (नोट—यही मत पंजाबीजीका भी है।)

वि० त्रि०—भरतजीके साथ ऋषि लोग भी थे, कुछ अयोध्यावासियोंने 'फल अशन' का व्रत लिया था, उनके लिये कन्द-मूल-फल लेनेको शिष्य सेवकोंको भेजा। तत्पश्चात् ऋद्धि-सिद्धिको सानुजसहित समाज भरतजीकी पहुनाई करके श्रम-हरणका आदेश दिया, परंतु भरतजीकी पहुनाई करके श्रमहरणमें अपनेको असमर्थ पाकर ऋद्धि-सिद्धियाँ आपसमें कहने लगीं कि रामजीके लघु भाई तो अतुलित अतिथि हैं, अतः

'मुनिपद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥' हम लोग राजसमाजको सुखी कर लेवेंगी। मुनिजीने यह जानकर *'बिधि बिस्मयदायक बिभव'* अपने तपोबलसे रच डाला। अर्थात् मुनिजीने भरतके श्रमापनोदनके लिये कोई बात उठा न रखी, ब्रह्मलोकका ऐसा वैभव है कि वहाँ शोकश्रमादिकी गति नहीं। विधिविस्मयदायक विभवमें शोक-श्रमादि कैसे रह सकता है? पर भरतजीको बिना रामके विश्राम नहीं।

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥१॥
सुख समाजु नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥२॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना॥३॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥४॥
असन पान सुचि अमिअ* अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥५॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥६॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥७॥
स्त्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा॥८॥

शब्दार्थ—**'सुरभि'**=सुगन्धित, सुगन्ध। **'जलासय'**=वह स्थान जहाँ पानी जमा हो; जैसे तालाब, बावली, कुआँ, नदी, गङ्गा। **'पान'**=पेय द्रव्य, पीनेके पदार्थ; जैसे शर्बत, जल। **'सुलभ'**=सुगमतासे मिलने योग्य, सहजमें मिलनेवाला, आसान। **'अमिअ अमी से'**=अमृतके भी अमृतसार। वा, अमृत-सा मीठा और तोष देनेवाला जल। **'अमिअ'**=जल—(रा० प्र०)। **'भोग'** आठ प्रकारके हैं; यथा—**'स्त्रग्गन्धो वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥'** (कामदर्पण)

अर्थ—जब भरतजीने मुनिका प्रभाव देखा तो उसकी तुलनामें उन्हें सभी लोकपालोंके लोक तुच्छ लगे†॥१॥ सुखकी सामग्रियाँ वर्णन नहीं की जा सकतीं, उन्हें देखकर ज्ञानी लोग अपना वैराग्य भुला देते हैं॥२॥ आसन (बिछौने), सेज, सुन्दर वस्त्र, चँदोवे, वन, फुलवाड़ी, अनेक पक्षी और पशु॥३॥ सुगन्ध (अतर-फुलेल), सुगन्धित फूल, अमृतके समान फल, अनेक प्रकारके॥४॥ निर्मल जलाशय, पवित्र और अमृतके भी अमृत-सरीखे खाने और पीनेके पदार्थ जिन्हें देखकर संयमी लोग भी (वा, संयमीकी तरह लोग) सकुचा रहे हैं॥५॥ सभीके यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं जिन्हें देखकर इन्द्र और इन्द्राणीको भी अभिलाषा होती है (कि हमें ऐसा ऐश्वर्य कभी प्राप्त न हुआ, अच्छा होता कि हम भी यहीं आ बसें, हमें भी दस-पाँच मिल जाते)॥६॥ वसन्त-ऋतु है, (शीतल-मन्द-सुगन्ध) तीनों प्रकारकी हवा चल रही है। सभीको चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-सुख) सुलभ हैं॥७॥ माला, चन्दन, स्त्री आदि सब भोगविलासके पदार्थोंको देखकर सब लोग हर्ष और विस्मयके वश हो गये—(हर्ष मुनिके इस प्रभाव और भोगविलासकी सामग्री देखकर और डर है कि हम संयमी हैं, रामवियोगी होकर इनका भोग अनुचित है। आश्चर्य है कि अभी कुछ न था, एकदमसे कहाँसे आ गये, लानेवाले देख नहीं पड़ते····इत्यादि)॥८॥

नोट—*'सुख समाज····बिरति बिसारहिं ग्यानी'* इति। (क) (ज्ञानी ब्रह्मसुखका स्वाद लेते हैं, प्रपञ्चसे वियोगी होते हैं—सांसारिक सुखोंका सर्वथा त्याग किये रहते हैं, यथा—*'परमारथी प्रपंच बियोगी। ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा॥·····'* जब इस सुखके सामानको देखकर वे उसे भूल जाते हैं तो इस सुखसमाजकी अतिशय सुन्दरता आप समझ लें। इस सम्बन्धसे इसकी अतिशय बड़ाई सूचित हुई। (ख) *'बिरति बिसारहिं ग्यानी'* इति। पंजाबीजी शङ्का करते हैं कि 'ज्ञानीका वैराग्य त्यागना तो असङ्गत है। वैराग्य ज्ञानीकी क्रिया

---

* आधुनिक पाठ 'अमित अमीसे'

† दीनजी अर्थ करते हैं—'सम्पूर्ण लोकोंमें लोकपति (मुनिके समक्ष) छोटे जान पड़े।'

नहीं है, जिसे वह त्याग करे। अपनी क्रियाका त्याग होता है न कि दूसरेकी क्रियाका?' और फिर समाधान करते हैं कि-(१) *'ग्यानी'* का अन्वय सबमें है, जिसको जिसका ज्ञान है वही उसका ज्ञानी है। वैराग्यके ज्ञाता वैराग्यको त्यागते हैं। अथवा, (२) वैराग्य ज्ञानीका परिपक्व लक्षण है। इस प्रकार ज्ञानीका त्याग भी ठीक है।' मेरी समझमें कविने स्वयं दिखाया है कि ज्ञानीके लिये वैराग्य अति आवश्यक है, यदि वैराग्य नहीं है तो वह ज्ञानी कैसा? यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७। ८९) *'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।'* (१७८। ४) *'नाम जीह जपि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥ ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा॥'* (१। २२। १-२) इत्यादिसे सिद्ध है कि वैराग्य आवश्यक है।

इस कथनका भाव आगे कवि जनाते हैं कि यहाँ ज्ञानीका वैराग्य भुलाना क्यों कहा। वह यह कि जिस भोगविलासको देखकर ज्ञानी आसक्त हो गये उसकी ओर भक्तशिरोमणि भरतजीने दृष्टि भी न डाली। इससे भक्तिका महत्त्व और भरतजीका मनसे वैराग्य दिखाया। (पं०)

नोट—२ *'बन बाटिका बिहग मृग'* एक चरणमें देकर जनाया कि वनमें मृग हैं, वाटिका सुगन्धित फूलोंसे लहलहाती है उसमें पक्षी हैं, दोनों तरह-तरहके हैं और बहुत हैं।

नोट—३ *'असन पान सुचि अमिअ अमी से।'* '**अमी से**'=अमसे, मिलाये, मिश्रित। अमृत सब पदार्थोंमें मिला हुआ है। अथवा, अमृतके भी अमृत। अमृत स्वर्गमें भी रहता है और यहाँकी सिद्धिरचित भोगविभूति ऐसी है कि *'देखत जिन्हहिं अमर अभिलाषे। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥'* (यह तो सिद्धियोंकी करतूत है) और मुनिने अपने तपोबलसे जो विभव निर्मित किया वह तो 'विधिविस्मयदायक' था तब *'असन पान'* का अमृतका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। (पु० रा० कु०) अथवा, *'असन पान सुचि अमिअ अमी से'*=भोजन-पान सब पवित्र थे और अमृत-सा जल था। अमृत नाम जलका भी है। यथा—'**पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्।**' (वि० त्रि०) इसपर प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि यद्यपि अमृतका अर्थ जल भी है तथापि यहाँ *'अमिअ अमी से'* असन और पान दोनोंका विशेषण होनेसे 'जल' अर्थ सुसंगत नहीं; कारण कि उसका अन्तर्भाव *'पान'* में हो गया है। '**अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते**' इति मेदिनीकोशे। अतः '**अमिअ अमी से**'=जो अमृतको भी अमृतके समान थे। अर्थात् अमृतसे भी अधिक स्वादिष्ट और तोषदायक थे। *'पान'* शब्दमें दूध, शर्बत, मट्ठा, जल, पीयूष, घृत इत्यादि विविध पेय पदार्थोंका अन्तर्भाव है। *'सकुचात जमी से'*—भाव यह कि अवधवासी तो श्रीरामजीके वियोगमें नेम-व्रत कर रहे हैं, अतः भोगविलासके इन दिव्य पदार्थोंको देखकर उनको इनके उपभोगका साहस नहीं पड़ रहा है, वे संकुचित हो रहे हैं कि कहीं ये हमारा व्रत न भंग कर दें; जैसे संयमी व्रतभंगके भयसे संकुचित होते हैं। मुख्य भाव यही है। पर दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि संयमी लोग पछताते हैं कि हमने व्यर्थ संयम किया, इन पदार्थोंको तो अवश्य भोग करना चाहिये था। पंजाबीजी *'जमी से'* का अर्थ यमराज (यमईश) करते हैं, पर यमराजका ऐश्वर्य कहीं ऐसा वर्णन नहीं हुआ कि वह प्रशंसायोग्य हो।

नोट—४ *'अभिलाष सुरेस सची के'* इनके सम्बन्धसे उनकी अतिशय बड़ाई की। सुरतरु और सुरसुरभी इससे सबके यहाँ रखीं कि कोई पदार्थ हम भूली भी हों तो ये पूरी कर दें।

नोट—५ *'सब कहँ सुलभ पदारथ चारी'* इति। (क) सुरतरु और कामधेनुके सम्बन्धसे ऐसा कहा। (ख) भाव यह कि जैसा मोक्ष होनेपर जीवको सुख होता है वैसा ही सुख सबको उस समय हुआ। यहाँ *'चारी'* से चारों प्रकारके सुखके भेद जनाये, कामसे अधिक सुख अर्थमें है, अर्थसे अधिक धर्ममें और धर्मसे मोक्षमें अधिक सुख है। और उत्तरोत्तर अधिक रहनेवाले भी हैं। इन चारों पदार्थोंके उपभोगका सुख अवधवासियोंको मिला, यथा—*'अर्थ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेस।'* (१। १५४) (पु० रा० कु०) अथवा, (ग) यहाँ अर्थ और काम ये दो पदार्थ प्राप्त ही हैं क्योंकि भोगविषयक जितने पदार्थ हैं वे अर्थ और कामके देनेवाले हैं। श्रीरामचरणानुरागमें मनके आसक्त होनेके कारण, इन सब पदार्थोंमें, भरतादिकी

रुचिका न जाना धर्म और मोक्ष है। (पं०) अथवा, मुनिकी आज्ञाका पालन धर्म है और स्वामिव्रतपालनमें उस ऐश्वर्यमें रहकर भी उसे न भोगनेमें मोक्ष है। (वीर) अथवा, अवधवासी सब मोक्षके अधिकारी हैं पर श्रीराम बिना मोक्षका भी निरादर करते हैं। इस प्रकार जो सामग्री मुनिने एकत्र की वह चार पदार्थकी देनेवाली कही गयी।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि सुरधेनु और सुरतरु मोक्षप्रदान करनेमें असमर्थ हैं, मोक्षप्रद एकमात्र ईश्वर ही है—*'बंधमोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सीव'*। अतः यहाँ *'पदारथ चारी'* से 'चार प्रकारके भोजन' यह अर्थ लेना चाहिये। मोक्ष सुलभ होता तो *'देखि लोग सकुचात'* की जरूरत ही नहीं रहती तथा *'बिरति बिसारहिं ग्यानी'* यह वचन भी विरोधक हो जाता। यहाँ तो ज्ञानियोंके भी वैराग्यका नाश होता है, अतः ये सब पदार्थ मोक्षहानिकर ही हैं इसीसे तो *'सकुचात जमी से'*।

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि—यहाँ मोक्षसुख सत्संगमें अन्तर्भूत है, यथा—*'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* (५। ४)

वे० भू०—*'स्रक चंदन बनितादिक भोगा'* इति। (शंका) यहाँ अन्य भोगोंके साथ वनिताएँ क्यों उपस्थित की गयीं जब कि अवधवासी परस्त्रीकी तो बात ही क्या, वेश्यागामी भी नहीं हो सकते? इसका समाधान कविने स्वयं ही अगले चरण *'देखि हरष बिसमय बस लोगा'* से कर दिया है। श्रीभरतजीके साथ अवधवासियोंके अतिरिक्त *'सेन संग चतुरंग न थोरी'* थी। इनमें बाहरके भी सैनिक अधिक रहे होंगे। सैनिकोंके सस्त्रीक रहनेकी प्रथा एवं युद्धनियम नहीं था। अतः उनकी स्त्रियाँ अपने-अपने घर रहीं। महर्षिके प्रभावसे जब सैनिकोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने-अपने पास पाया तो हर्ष और विस्मयके वश हो गये। अपनी स्त्रीको देख हर्ष हुआ और महर्षिका ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव देखकर विस्मय हुआ। अर्थात् आश्चर्य तो हुआ ही साथ ही दुःख हुआ कि हमारे संयममें बाधा न पड़े। *'देखि लोग सकुचात जमी से'*।

पुरुषोंमें बहु विवाहका प्रचार सदैवसे रहा है। अतः महर्षिने बहुत सुन्दर स्त्रियाँ प्रकट करके लोगोंको अर्पित कीं जो सर्वथा कुमारी थीं, तभी तो कहा है कि *'जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं।'* और स्त्रियोंके लिये एकपतित्वका नियम होनेसे उनके लिये 'पुरुषादिक भोगा' नहीं उत्पन्न किये। पुनः अन्तके *'मुनि आयसु खेलवार'* शब्द सूचित करते हैं कि *'स्रक चंदन बनितादिक भोग'* आतिथ्यधर्मपालनार्थ नहीं किंतु *'खेलवार'* (कुतूहल किंबा) के लिये ही उपस्थित किये थे। पर अवधवासी श्रीरामप्रेममें पगे हुए थे, वे देखकर डर गये। किसीने भोगा नहीं।

इस पूरे प्रसङ्गकी पंक्ति-पंक्तिके अक्षरोंपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि आतिथ्य-सत्कारमें स्त्रियोंके देनेकी विधि नहीं थी। वह भरद्वाजकृत विलक्षण स्वागत था और भरद्वाजप्रदत्त स्त्रियोंके ग्रहण कर लेनेमें परस्त्रीगमनजन्य पापकी भी आशंका नहीं थी। परंतु मुनिने 'कन्द-मूल-फल' देनेको कहकर 'विधि विस्मयदायक विभव' दिया; इसीसे सत्पथके पथिक अवधेशके अनुयायियोंने उन्हें ग्रहण न किया अपितु देखकर ही रह गये।

नोट—६ *'हरष बिसमय बस लोगा'* इति। मिलान कीजिये—**'व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम्। दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तावद्भरद्वाजमहर्षिणा॥'** (वाल्मी० २। ९१। ८०) अर्थात् स्वप्नके समान अद्भुत महर्षि भरद्वाजका किया हुआ वैसा आतिथ्य देखकर सभी मनुष्य विस्मित हो गये।

दो०—संपति चकई भरतु चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥ २१५॥

शब्दार्थ—'खेलवार'=खेलाड़ी, खेल करनेवाला।=खेल 'चक'=चकवा, चक्रवाक।

अर्थ—सम्पत्ति (भोग-विलासकी सारी सामग्री) चकवी है। श्रीभरतजी चकवा हैं। मुनिकी आज्ञा

(निमन्त्रण) 'खेलवाड़' है* जिसने उस रातको आश्रमरूपी पिंजड़ेमें दोनोंको बन्द कर रखा। रखे-ही-रखे सबेरा हो गया॥ २१५॥

नोट—१ यहाँ सम-अभेदरूपक है। प्रकृतिका यह नियम है कि चकवा-चकवीका रातमें कभी भी संयोग नहीं होता। रातमें वे परस्पर वियोगी ही रहते हैं। यदि कोई उन्हें जबरदस्ती एक पिंजड़ेमें बन्द भी कर दे तो भी वे एक पिंजड़ेमें रहते हुए भी रातमें कदापि न मिलेंगे बल्कि एक-दूसरेसे मुँह फेरे हुए सबेरा कर देंगे। इस प्रकार यहाँ मुनिने अपने तपोबलसे सब सुखका साज रचकर भरतजीको आज्ञा दी कि अतिथि हों, उनकी आज्ञा मानकर वे रातभर उस आश्रममें इस भोग-विलासकी सामग्रीके पास बैठे रहे पर उन्होंने इस अपूर्व सम्पत्तिकी ओर मनको भी न जाने दिया। सम्पत्तिसे विमुख या वियोगी बने बैठे रहे। मुनिकी आज्ञा खेलाड़ी है; क्योंकि आज्ञाके कारण ही आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा था।

नोट—२ भरत और सम्पत्तिको चकवा-चकवीकी उपमा देकर वाल्मीकीयका मत भी जना दिया है कि ये ही बचे और सब सुखमें मग्न हो गये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरतजीने घरमें सिंहासन, पंखा छत्र देखकर उनको प्रणाम किया। जैसे राजाको प्रणाम किया जाता है। इस प्रकार रामचन्द्रजीको प्रणाम करके वे चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर बैठ गये, यथा—'**तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च। भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥**' (३८) '**आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च। बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥**' (३९) ☞ क्या उत्कृष्ट भाव है। इसके आगे देवलोकका ऐश्वर्य क्या भक्तको मोहित कर सकेगा? '*संपति सब रघुपति कै आही*', उनका महल है, वे अदृश्यरूपसे विराजमान हैं, हम सेवक हैं। यद्यपि वाल्मीकीयका मत भी इस रूपकसे लक्षित हो जाता है तथापि मानसकल्पके अवधवासी भी इस भोगसामग्रीसे दूर ही रहे थे यह '*देखि लोग सकुचात जमी से*' इस चरणसे स्पष्ट कह दिया है। भेद इतना अवश्य है कि उन लोगोंने देखा और उससे डरते रहे और श्रीभरतजी तो उससे पीठ ही फेरे रहे।

पु० रा० कु०—यहाँ दो बातें दिखायीं। १—मुनिने परीक्षार्थ नेवता दिया। इस लोकके भोग इन्होंने त्याग दिये तो देवलोकके पदार्थ दिखाते हैं। देखें उसे ग्रहण करते हैं या नहीं। यह अनुमान 'खेलवार' और 'चकवा-चकवी' के रूपकसे होता है। खेलाड़ी परीक्षा करनेके लिये दोनोंको साथ बन्द करता है कि देखें दोनों मिलते हैं कि नहीं, वैसे ही यह निमन्त्रण भरतजीकी परीक्षा-हेतु है। पर उन्होंने उसकी ओर दृष्टि भी न डाली। चकवाकी उपमासे यह भी जनाते हैं कि भरतजी इस वैभवसे दुःखी हुए, सुखी न हुए, यथा—'*चक्क चक्कि जिमि पुर नर नारी। चहत प्रात उर आरत भारी॥*' पुनः, गीतावलीके '*घोर घामके लागे*' से भी यही सिद्ध होता है कि मुनिकी पहुनाई तापदाता हुई, सुखदाता नहीं। २—रामानुरागियोंको आनुषङ्गिक भोग रास्ते चलते मिलते हैं। [(नोट)—मेरी समझमें, यह भी सम्भव है कि भरतजीका वैराग्य संसारमें (शिक्षार्थ) प्रसिद्ध करनेके लिये यह सब खेल रचा गया। महर्षि उनके प्रेम और वैराग्यको जानते हैं]

वै०—जब भरतजीको ग्रहण न करना था तो मुनिने इतना वैभव क्यों रचा और उन्होंने निमन्त्रण क्यों स्वीकार किया? उत्तर—भक्तशिरोमणि भरतजीकी सेवामें मुनिने अपना सुकृत लगाकर उसे सुफल किया और उनके वैराग्यकी परीक्षा भी हो गयी। निमन्त्रण व्यर्थ नहीं गया। भरतजीने आज्ञा मानी, कन्द-मूल-फलमात्र ग्रहण किये और विभवपर दृष्टि न डाली।

वि० त्रि०—भरतजी विधि विस्मयदायक विभवको देखकर संकुचित नहीं हुए; क्योंकि वे ऐसे विभवके भोगनेके योग्य थे, इसीसे सम्पत्तिको चकई और भरतजीको चक कहा। परंतु बिना भानुकुलभानुके भरतजीने वैभवका उपयोग त्याग दिया था, अतः '*तापस शमदम दयानिधान परमारथपथ परम सुजान*' महामुनि भरद्वाजजीके आदेशका मूल्य खिलवाड़मात्र रह गया। वह कोक-कोकीको रातके समय एक पिंजड़ेमें बन्द करनेके कौतुक-सा हो गया। मुनिजी भरतकी परीक्षा लेने नहीं चले थे, यथा—'*मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तस पूजा*

* किसी-किसीने 'मुनि आयसु' को 'खेलवाड़' (खेल) और मुनिको खेलाड़ी माना है।

चाहिय जस देवता॥' इत्यादि। भरतको राजसमाजके सहित मुनिजीने न्योता दिया था, और भरतजी विरह-विकल भी थे, अतः उनका मन बहलानेके लिये मुनिजीको इतनी तैयारी करनी पड़ी। रामजीको नेवता नहीं दिया था, और वे प्रसन्न भी थे, अतः ईश्वरकी भाँति जो सामग्री मौजूद थी, उसीसे उनका पूजन किया।

कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा॥ १॥
रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाषी॥ २॥
पथगति कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे॥ ३॥

शब्दार्थ—**निमज्जनु**=डूबकर किया जानेवाला स्नान, अवगाहन, गोता लगाकर स्नान करना। **भाषी**=कही। **पथगति कुसल**=मार्गकी चालें, कौन रास्ता किधर गया है, कौन सीधा है, कौन मार्ग कैसा है इत्यादि जाननेमें प्रवीण=पथप्रदर्शक।

अर्थ—(श्रीभरतजीने) तीर्थराज प्रयाग त्रिवेणीमें स्नान किया, समाजसहित मुनिको माथा नवाकर॥ १॥ ऋषिकी आज्ञा और आशीर्वाद सिरपर धारणकर दण्डवत् करके बहुत विनती की॥ २॥ रास्तोंको अच्छी तरह जाननेवाले पथप्रदर्शकों और सबको साथ लिये हुए चित्रकूटपर चित्त लगाये हुए वे चले॥ ३॥

नोट—१ ***'नाइ मुनिहि सिरु'''बिनय बहु भाषी'*** इति। (क) **'तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च।'''सुखोषितोऽस्मि भगवन्समग्रबलवाहनः। बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान्भगवंस्त्वया॥ अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः। अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः॥ आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम। समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥'''** (वाल्मी० २। ९२। ५—७) यही सब ***'बहु बिनय'*** है। श्रीभरतजीने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और (ऋषिके पूछनेपर) कहा कि भगवन्! अपने समस्त सैनिक तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनोंके साथ मैंने सुखपूर्वक निवास किया, आपने हम सबोंको खूब तृप्त किया। हम सब लोगोंने यहाँ अपना संताप दूर किया। ठहरनेके लिये खूब उत्तम स्थान मिले। सबने सुखपूर्वक निवास किया। भगवन्! आपसे मैं निवेदन करता हूँ कि भाईके समीप जानेवाले मुझपर आप अधिक कृपादृष्टि रखें। उन धर्मात्माके आश्रमका कौन मार्ग है और वह यहाँसे कितनी दूर है? (ख) ***'सहित समाज सिर नाइ'*** कहकर जना दिया कि माताओंने भी सवारियोंसे उतरकर वहाँ जाकर प्रणाम किया।

नोट—२ ***'चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे'*** इति। उपदेश है कि तीर्थको चले तो उसीपर ध्यान रहे, न कि घरपर। (पु० रा० कु०) २ श्रीरामचन्द्रजी सीधे न जाकर वाल्मीकिजीके आश्रमपर गये थे। पर ये वहाँ न गये। इसका कारण मुख्यतः यही प्रतीत होता है कि—(क) इस समय उनको श्रीरामदर्शनकी उत्कट लालसा है। वे शीघ्रातिशीघ्र दर्शनके लिये आतुर हैं, यह ***'चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज।'*** (गी० २। ६८) से भी सिद्ध होता है। अथवा, (ख) वे भरद्वाजजीके गुरु हैं, चेलेने ऐसा आतिथ्य किया तो गुरु न जानें क्या करें। यही कठिन संकोच था, तो वह काम क्यों करें। अतएव सीधे चले। ***'चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज घोर घामके लागे'*** के ***'घोर घाम'*** से भरद्वाजकी मेहमानीका भी संकेत लिया जा सकता है। दूसरे, सम्भवतः मुनिसे मालूम हुआ होगा कि वे आश्रमपर नहीं हैं। (शिला)

वि० त्रि०—***'पथगति कुसल'''दीन्हे'*** इससे मालूम होता है कि उस समय आगे घोर जंगल था। रामजीको भी रास्ता दिखानेके लिये मुनि शिष्योंको लेना पड़ा, भरतजीको भी पथ-गति कुशलोंको साथ लेना पड़ा। भरतजीको रामजीके पास पहुँचनेकी जल्दी थी, अतः वे सीधे चित्रकूट गये। रामजीको बसनेके लिये स्थान पूछना था, इसलिये उन्हें वाल्मीकिजीसे मिलना आवश्यक था। रामजीको किसी विशेष स्थानपर पहुँचनेकी जल्दी न थी, ***'मुनिगण मिलन'*** का बड़ा चाव था, वाल्मीकिजी प्रधान थे, अतः मिलने गये।

नोट—३ यहाँ मन-कर्म-वचन तीनोंसे रामजीमें लीन दिखाया ***'चित दीन्हें',*** (मन), 'चले' (कर्म), ***'पंथ कहानी पूछत'*** (वचन)। (वै०)

नोट—४ पु० रा० कु०—पार उतरकर स्नान करना चाहिये था पर इन्होंने इसी पार स्नान कर लिया।

कारण कि उस पार स्नान करनेसे प्रयागतीर्थस्नान न मिलेगा। तीर्थस्नान करके चलना उचित समझा। (नोट—पूर्व लिखा गया है कि सरस्वती नदीके लिये यह नियम नहीं है, यहाँ सरस्वती हैं। इससे इसी पार स्नान किया)।

रामसखा कर दीन्हे लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू॥४॥
नहि पदत्रान सीस नहिं छाया। पेमु नेमु ब्रत धरमु अमाया॥५॥
लखन राम सिय पंथ कहानी। पूछत सखहि कहत मृदु बानी॥६॥
राम-बास-थल-बिटप बिलोकें। उर अनुराग रहत नहिं रोकें॥७॥
देखि दसा सुर बरिसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगलमूला॥८॥

शब्दार्थ—'**कर दीन्हे लागू**'=हाथ पकड़े हुए, सहारा लिये हुए जैसे कंधेपर हाथ रखकर लोग प्रेमसे चलते हैं। '**अमाया**'=कपट-छलरहित, निःस्वार्थ, निश्छल, निष्कपट। '**थल**'=स्थान, जगह, ठिकाना। '**मंगलमूला**'=मङ्गलकी जड़, मङ्गलका उत्पन्न करनेवाला, मङ्गलमय।

अर्थ—श्रीरामजीके सखा निषादराजके हाथका सहारा लिये हुए चल रहे हैं मानो प्रेम ही शरीर धारण करके चल रहा है॥४॥ न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छाया (अर्थात् छत्र या छाता भी नहीं लगाये हैं)। उनका प्रेम, नेम, व्रत और धर्म छल-कपट रहित है॥५॥ श्रीलक्ष्मण, राम और सीताके मार्गकी कथा सखासे पूछते हैं और वह कोमल वाणीसे कहता है॥६॥ श्रीरामचन्द्रजीके निवासके स्थान (जहाँ-जहाँ वे ठहरे थे) और वृक्षोंको देखते ही हृदयमें प्रेम रोके नहीं रुकता। (अर्थात् प्रेम रोमाञ्च, अश्रु आदि रूपमें उमड़ पड़ता है)॥७॥ श्रीभरतजीकी यह दशा देखकर देवता फूल बरसाते हैं, पृथ्वी कोमल हो गयी और मार्ग मङ्गलदायक हो गया॥८॥

नोट—१ *'चलत देह धरि जनु अनुरागू।'* श्रीरामविरह एवं दर्शनाभिलाषाके कारण शिथिल हैं; इससे पकड़े हुए चलते हैं। अनुरागमें अङ्ग शिथिल पड़ते ही हैं, अतः 'अनुराग' की उपमा दी। श्रीभरतजीको श्रीरामप्रेमकी मूर्ति आदि पूर्व भी कह आये हैं—*'रामप्रेम मूरति तनु आही।'* (१८४। ४) यह अवधके सभासदोंके वाक्य हैं। जब शृङ्गवेरपुरमें श्रीरामवास, स्नान स्थलोंको देखने गये, तब भी प्रायः ऐसा ही कहा है—*'सोहत दिए निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥'* (१९७। २) भेद केवल इतना है कि वहाँ विनय और अनुरागका तन धरना कहा है (जो साभिप्राय हैं) और यहाँ केवल 'अनुराग' कहा है। दोनों जगह कविके वाक्य हैं। भरद्वाजजीने भी यही मत प्रकट किया है—*'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ८) और अन्तमें भी इनको प्रेममूर्ति कहा है—*'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही।'* (७। ५)—इसी तरह आदि-मध्य-अन्त सर्वत्र इनको रामप्रेममूर्ति वा रामप्रेमका अवतार ही कहा है। चित्रकूटमें श्रीवसिष्ठजीने जब निषादराजको उठाकर छातीसे लगाया है तब उसे भी 'स्नेह' कहा है। यथा—*राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥'* (२४३। ६) श्रीभरतजी निषादराजका सहारा लिये चलते हैं। यह यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

नोट—२ *'नहिं पदत्रान·····'* इति। नंगे पैर, पैदल, बिना छत्रछायाके ऐसा कठिन नियम, फलाहार व्रत, सेवकधर्म निबाहते हुए और प्रेमकी तो मूर्ति ही हैं।

नोट—३ *'लखन राम सिय पंथ कहानी।·····'* इति। (२) *'पंथ कहानी'* मार्गकी कथाएँ। ये कथाएँ प्रायः वह हैं जो भरद्वाजाश्रमसे चलनेपर आगेके मार्गकी हैं। *'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारिनर धाई॥'* (१०९। ७) से लेकर *'राम लखन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥'* (१२२) इत्यादितक। जो सम्पूर्ण मार्ग और वनमें ग्राम-ग्राम चर्चा हो रही है, वही सब कथाएँ कहीं। 'पथिकथा' ही *'पंथ कहानी'* है। मार्गमें जहाँ-तहाँ थोड़ी-ही-थोड़ी देर विश्राम किया इससे प्रत्येक जगहकी कथा थोड़ी-ही-थोड़ी है। अतः

उसे *'कहानी'* कहा। प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि 'मानसमें *'कहानी'* शब्दका प्रयोग 'कल्पित कथा जो ज्ञान-सिद्धान्त समझानेके लिये कही जाती है' अथवा 'अकथ्य अनिर्वचनीयकी कथा' के अर्थमें किया गया है। यथा—*'उदभवपालन प्रलय कहानी। कहे अमित आचरण बखानी॥'* (१। १६३। ६) *'ममतारत सन ज्ञान कहानी।'* (५। ५८। ३), *'सुनहु तात यह अकथ कहानी।'* (७। ११७। ३) अतः यहाँ भाव यह है कि यद्यपि श्रीराम-लक्ष्मण सीताजीके चरित अगाध, अनिर्वचनीय अनन्त हैं तथापि पूछते हैं। *'यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानउँ॥'* सगुण ब्रह्मका निदर्शन करनेके लिये यहाँ *'कहानी'* शब्द प्रयुक्त किया गया है।

नोट—४ (क) *'पूछत सखहि कहत मृदु बानी'* इति। सखासे पूछते हैं क्योंकि वह मार्गमें बहुत दूरतक साथ रहा है और आगेके समाचार भी उसे मिलते रहे हैं। सखासे पूछा अतः सिद्ध हुआ कि सखाने कहा। बैजनाथजीका मत है कि सखासे पूछते हैं और स्वयं कहते भी हैं। (ख) *'कहत मृदु बानी'* इति। मृदु वाणी बोलना भक्तोंका स्वभाव ही होता है, वे मीठे कोमल वचन बोलते ही हैं। श्रीलक्ष्मणजीसे उसे यह ज्ञात हो चुका है कि *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* हैं, इससे उसका स्नेह अधिक हो गया। फिर भक्तशिरोमणि रामप्रेममूर्ति भरतका इस समय सङ्ग है, उनके प्रेमकी दशा देखकर पशु-पक्षी जड़ जीव भी प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यथा—*'देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेममगन खग मृग जड़ जीवा॥'* (२३८। ५) वैसे ही गुह भी प्रेममें डूबे हुए हैं। अनुरागके समय वाणी कोमल हो ही जाती है। अतः *'कहत मृदुबानी'* कहा। पुनः *'मृदुबानी'* से यह भी सूचित किया कि वह श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीको मार्गमें जो कष्ट हुए, उनकी चर्चा नहीं करते, कष्टकी कोई बात नहीं कहते जिसमें श्रीभरतजीको संताप न हो, मगवासी-वासिनियोंके प्रेमकी कथाएँ ही कहीं, इत्यादि। (ग) *'राम-बास-थल'''* इति। भाव कि विश्रामके स्थान देखकर वैसा ही प्रेम उमड़ पड़ता था मानो श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीको ही देखा हो जैसा पूर्व दोहा १९८-१९९ में कह आये हैं—*'चरनरेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥'* (१९९। २) *'रहत नहिं रोके'* से जनाया कि रोकना चाहते हैं पर रुकता नहीं, प्रेमाश्रु, गद्गदकण्ठ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंद्वारा बाहर उमड़ा आता है। (घ) *'देखि दसा सुर बरिसहिं फूला।'''* इति। श्रीभरतजीकी अनुरागमें ऐसी दशा हो गयी कि उसका प्रभाव आकाश और पृथ्वी दोनोंपर पड़ा। आकाशसे देवताओंने फूल बरसाये और पृथ्वी भी मृदु हो गयी—यह सोचकर कि एक दिनकी यात्रासे तो चरणोंमें झलके (छाले) पड़ गये और अब तो वनमार्गमें और भी कष्ट होगा। (वि० त्रि०) (ङ) *'भइ मृदु महि मगु मंगलमूला'*—यह आगे *'किये जाहिं छाया'''* इस दोहेमें दिखाते हैं। पृथ्वीपर काँटे-कंकर आदि दुःख देनेवाली वस्तुएँ न रह गयीं।

दो०—किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयेउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥ २१६॥

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ १॥
ते सब भए परमपद जोगू। भरत दरस मेटा भवरोगू॥ २॥
एह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिनहिं रामु मन माहीं॥ ३॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥ ४॥
भरतु रामप्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता॥ ५॥
सिद्ध साधु मुनिवर अस कहहीं। भरतहिं निरखि हरषु हिय लहहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बहइ**'—'बहना'=वायुका संचरित होना, हवाका चलना, यथा—*'त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी'*। '**बात**'=वायु, हवा। '**घनेरे**'=बहुत-से, अगणित। '**बारक**'=एक बार, एक दफा। '**तरन तारन**'—तरण=तैरकर

पार हो जानेवाला, भवसागर पार होनेवाला। '**तारन**'=दूसरेको भवसागर पार कर देनेवाला। '**तरन तारन**'=जो स्वयं भवसागर पार हो जायँ और दूसरोंको पार कर दें।

अर्थ—बादल छाया किये जा रहे हैं, सुख देनेवाली सुन्दर (शीतल, मन्द, सुगन्ध) हवा बह रही है। जैसा (सुखदायक) मार्ग श्रीभरतजीके जाते समय हुआ वैसा श्रीरामचन्द्रजीके लिये नहीं हुआ था॥२१६॥ मार्गके अगणित जड़ और चेतन जीव जिन्होंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको देखा या जिन्हें प्रभुने देखा वे सब परमपदके अधिकारी हो गये थे, परन्तु अब भरतजीके दर्शनने तो उनका भवरोग ही (बारंबार जन्म-मरण) मिटा दिया* ॥१-२॥ श्रीभरतजीके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, जिन्हें श्रीरामचन्द्रजी स्वयं मनमें स्मरण करते रहते हैं॥ ३॥ संसारमें जो कोई भी मनुष्य एक बार '*राम*' (ऐसा) कहते हैं अर्थात् रामनाम लेते हैं वे स्वयं तर जाते हैं और दूसरोंको तार देनेवाले हो जाते हैं †॥४॥ और, श्रीभरतजी तो श्रीरामजीके प्यारे हैं और फिर उनके छोटे भाई भी हैं तब भला मार्ग उनके लिये मङ्गलदायक कैसे न हो? अर्थात् होना ही चाहिये॥५॥ सिद्ध साधु श्रेष्ठ मुनि ऐसा कह रहे हैं और भरतजीको देखकर हृदयमें हर्षित होते हैं॥६॥

श्रीजामदारजी—इस वर्णनमें रामजी और भरतजीके माहात्म्योंकी तुलना करके गोसाईंजीने भरतजीको ही श्रेष्ठत्व दिया। यह वर्णन बहुत ही मार्मिक है। इसमें रामजीकी अपेक्षा संतोंको ही श्रेष्ठ ठहराया। (***'राम तें अधिक राम कर दासा'*** यहाँ फिर चरितार्थ हुआ।)

इस तुलनाका भाव ऐसा दिखता है कि जीवोंको रामदर्शन परमपदके लिये पात्र बनाता है। परन्तु उसकी संसार-यात्राकी समाप्ति हुए बिना उसके लिये परमपदप्राप्ति सम्भव नहीं है; परंतु संतदर्शन (अथवा गुरुदर्शन) जीवोंके संसारकी ही समाप्ति करता है। अर्थात् संतकृपा ऐसी है कि उसके योगसे संसार ही परमपद बन जाता है। गीताकी भाषामें इसीको हम कह सकते हैं कि '**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**' (५। १९) इसी आशयको श्रीमुकुन्दराज महाराजने अपनी 'परमामृत' में कहा है कि '***याचि देहीं याचि डोलां। भोगूँ मुक्तीचा सोहला॥***' [अर्थ—इसी देहमें (जन्ममें) और इसी नेत्रसे मुक्तिका आनन्दोत्सव चखेंगे।]

पु० रा० कु०—१ '*ते सब भए परमपद जोगू*''''' इति। अर्थात् जब शरीर छूटेगा तब परमपद पावेंगे। श्रीरामजीका दर्शन निष्फल नहीं जाता, यह उन्होंने स्वयं विभीषणजीसे कहा है, यथा—'***जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥***' (५। ४९। ९) जो भक्तकी वासना मिलते समय होती है उसकी भी पूर्ति होती है और उसे सहज स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यथा—'***मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥***' (३। ३६। ९) सहजस्वरूपकी प्राप्ति हो जानेसे परमपद-प्राप्तिके योग्य हो जाता है। प्रारब्ध शरीरके नाशपर ही परमपदकी प्राप्ति होगी। जबतक शरीर है तबतक भवरोग बना है। वह भवरोग मिटा। अर्थात् जीवन्मुक्त हो गये। अहंबुद्धि जाती रही। [उनका मन समतामें स्थित हो गया। इससे उन्होंने शरीर रहते ही संसारको जीत लिया, क्योंकि वह सम आत्मतत्त्व है, वह ब्रह्म ही है। आत्मसमतामें स्थिति ब्रह्ममें ही स्थिति है। ब्रह्ममें स्थित होना ही संसार (भव) पर विजय पा लेना, भवका मिटना है। यह भाव उपर्युक्त गीता-उद्धरणका है। संतोंके दर्शनसे इसकी शीघ्र प्राप्ति हो जाती है।] इस दोहेमें भगवत्से भागवतमाहात्म्य अधिक दिखाया है। समुद्रने रामजीकी सेवकाई न की और सेवक हनुमान्जीकी की, यथा—'***जलनिधि रघुपति दूत''॥***'

पाँड़ेजी—जिनके नेत्र नहीं, जैसे वृक्ष, पत्थर आदि, उनको रामजीने देखा और जिनके नेत्र थे उन्होंने रामदर्शन किया। इस प्रकार सब चर-अचर जीव परमपदके योग्य हुए। पर जब उन्होंने सुना कि भरतको राज्य देनेके लिये इनको वनवास दिया गया तब उनको राज्यसुख ही प्रधान आदरणीय पदार्थ जान पड़ा। [श्रीरामजीमें उनकी ईश्वर-बुद्धि न हुई। (रा० प्र०)] इस कारण उनको भवरोग लग गया, वे केवल परमपदके

---

* उत्तरोत्तर उत्कर्ष 'सार अलङ्कार' है।

† अर्थान्तरन्यास।

अधिकारी मात्र रह गये। परंतु जब भरत-दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि जिस राज्यके कारण एकको वन हुआ उसीको ये तुच्छ मानकर और त्याग करके श्रीरामजीके अनुरागमें रँगे चले जा रहे हैं, तब इन्हें निश्चय हो गया कि रामप्रेम ही मुख्य है, राज्य आदि विभव कुछ नहीं है [भरतदशा देखनेपर श्रीरामजीमें ईश्वर-बुद्धि आ गयी। (रा० प्र०)] अतः इनका भवरोग मिट गया।

मयङ्क—(क) भव कुटुम्बको भी कहते हैं। जिनको दर्शन हुआ वे परमपद पावेंगे, पर उनके कुटुम्बका तरना न कहा था। इनके दर्शनसे परिवारको परमधामकी प्राप्ति हो गयी। यथा—*'सहित कोटि कुल मंगल मोरे'* *'सहित प्रयाग सुभाग हमारा।'* पुनः (ख) परमपदके योग्य हुए पर मत-मतान्तरकी शूल किञ्चित् रह ही गयी थी, क्योंकि यह बोध न हुआ था कि ये परतम हैं। भरतजीके पर-प्रेमको देखकर रामप्रेमका अटल बोध हुआ, ज्ञान आदि अपर साधन तुच्छ जान पड़े।

नोट—१ टीकाकारोंने यहाँ यह शङ्का उठायी है कि ग्रन्थकार पूर्व कह आये हैं कि *'झलका झलकत पायन्ह कैसे'* अर्थात् उनको (भरतजीको) मार्गमें बहुत कष्ट हुआ और यहाँ कहते हैं कि *'तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात',* अर्थात् श्रीरामजीको भी मार्ग ऐसा सुखदायी न हुआ था जैसा इनको हो रहा है। इस तरह पूर्वापर विरोध-सा जान पड़ता है। और इस शङ्काका समाधान भी सभीने किया है—

मुं० रोशनलाल—प्रथम दरबार जो अवधमें हुआ उसमें भरतजीने सबसे आशीर्वाद माँगा कि *'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥'* सदैव स्वार्थमें रत देवताओंको इससे सन्देह हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीको लौटाने जाते हैं, इससे अपने कार्यकी हानि समझ उन्होंने मार्गमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ डालीं। पृथ्वी कठोर और गर्म, वायु गर्म, घाम कड़ा, काँटे-कंकड़ आदिसे पैरोंमें छाले पड़ गये। पर जब प्रयागराजसे उन्होंने वर माँगा कि *'जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन'* दीजिये तब उनका अन्तःकरण शुद्ध समझ उनका सन्देह दूर हुआ, वे प्रसन्न हो फूल बरसाने लगे, पृथ्वी कोमल और मङ्गलदायक बन गयी, मेघोंकी छाया हो गयी, इत्यादि। इससे अब मार्ग सुखद हो गया। (पाँड़ेजी)

नोट—२ पं०—भरतजीका प्रेम श्रीरामजीमें उमगा इसलिये चराचरका स्नेह भरतमें हो गया और वे सुखदायक हो गये। यथा—*'जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहु चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना॥'* (२२०। ६-७) भरत संतप्त हैं, मगकी कठिनता होगी तो वे और दुःखी होंगे, हम सब सुख देंगे तो वे श्रीरामजीके लौटानेमें हठ न करेंगे, यह सोचकर वे सेवा कर रहे हैं, मानो विनय करते हैं कि हमारे कष्टका हरण करने दीजिये। श्रीरामजीको दुःख नहीं है, वे अपनी खुशीसे आये हैं और भरतजी उनको दुःखी समझते हैं।'

☞ ग्रन्थकार यहाँ इनका मार्ग रामजीकी अपेक्षा अधिक सुखद लिख रहे हैं। वे यह नहीं कहते कि श्रीरामजीको मार्गमें कष्ट नहीं हुआ। गीतावली और कवितावलीमें तो खूब स्पष्ट है कि श्रीसीता-लक्ष्मण-राम तीनोंको कष्ट हुआ, छाले पड़े, काँटे गड़े, श्रम हुआ और मानसमें भी पन्थ-कथा आप पढ़ ही आये हैं।

राजकुमार भरतजी रामजीका वनवास, उनका शृङ्गवेरपुरसे सवारीका त्याग और सबका पादत्राणविहीन पैदल चलना याद करके स्वयं नंगे पाँव, पैदल चले। कभी क्यों ऐसा कुअवसर प्राप्त हुआ होगा। उसपर भी रामदर्शनकी उत्कण्ठामें उन्होंने इतनी बड़ी मंजिल तय की। इससे फफोले तो पड़े पर तो भी क्या यह मार्ग उनको दुःखद हुआ? कदापि नहीं। इसे प्रेमीका ही हृदय जान सकता है। उनके हृदयमें जो ग्लानि और प्रेम भरा है उससे छालेकी ओर तो उनका स्वप्नमें भी ध्यान न गया होगा। प्रेमीकी चाहमें मार्ग सुखद ही लग रहा होगा। चाहे देवताओंने उस समय कुछ भी सहायता न की हो, कविने छालोंके झलकनेकी उपमा ऐसी उत्तम न दी होती जैसी यहाँ दी है—*'पंकजकोस ओसकन जैसे',* यदि वे दुःखद प्रतीत होते। वे छाले भी ओसकणकी तरह ठण्डे ही लगते रहे। इस प्रकार विरोधाभास नहीं है। यहाँ कवि मार्गके अधिक सुखद होनेका कारण देते हैं कि *'भरत रामप्रिय*

पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता॥' प्रभु अपने भक्तपर कृपा करते ही हैं इससे उनका मार्ग अधिक सुखद कर दिया।

भरतजीका अनुराग उमड़-उमड़कर निकल पड़ता था। इस दशाको देखकर देवता भी प्रेममें मग्न हो गये और वे फूल बरसाने लगे""इत्यादि। आगे यह देवगुरुसे सुनकर कि रामचन्द्रजी *'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैरु बैर अधिकाई॥""भरत राम आयसु अनुसारी।'* उनका संदेह दूर हुआ और वे मार्गको भरतके लिये मंगलमय बनाते चले गये।

पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि सन्मार्गमें प्रथम कष्ट होता है, कठिन परीक्षा होती है; पर आगे सुख होता है।

देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू। जगु भल भलेहि पोच कहुँ पोचू॥७॥
गुर सन कहेउ करिअ प्रभु सोई। रामहि भरतहि भेट न होई॥८॥
दो०—राम सकोची प्रेम बस भरत सुपेम* पयोधि।
बनी बात बेगरन चहति करिअ जतनु छलु सोधि॥२१७॥

अर्थ—श्रीभरतजीके प्रेम का प्रभाव देखकर देवराज इन्द्रको सोच हुआ। (कि इनके संकोचसे रामजी लौट न जावें, बना-बनाया खेल बिगड़ न जाय)। संसार भलेको भला और बुरेको बुरा ही दीखता है॥७॥ उसने गुरु बृहस्पतिजीसे कहा कि 'हे प्रभो! वही (उपाय) कीजिये जिससे रामजीसे भरतकी भेंट न हो॥८॥ श्रीरामचन्द्रजी संकोची और प्रेमके वश हैं और भरतजी सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमके समुद्र हैं। बनी-बनायी बात बिगड़ना चाहती है, इसलिये कोई छल खोजकर उसका उपाय कीजिये॥२१७॥

नोट—१ *'जगु भल भलेहि""'*, यह लोकोक्ति है। कविकी यह उक्ति लोकशिक्षार्थ है कि जग भलेको भला और बुरेको बुरा है। उसी प्रेम-प्रभावको देखकर सिद्ध साधु मुनिवर प्रशंसा कर रहे हैं और उसीसे इन्द्रको चिन्ता हो गयी। इन्द्र स्वयं छलिया है इससे उसको सब छलिये और विघ्नकर्ता ही सूझते हैं। दुर्योधन और युधिष्ठिरजीकी कथा प्रसिद्ध ही है कि उसको संसारमें कोई साधु न मिला और इन-(युधिष्ठिरजी-) को खोजे कोई दुष्ट न मिला।

नोट—२ (क) *'सकोची प्रेम बस'*, यथा—*'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।'* (१। ३४२। ४)। *'चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची।'* (२७०। ३), *'तेहि तें अधिक तुम्हार सकोचू।'* (२६४। ७) *'अस कहि अति सकुचे रघुराऊ।'* (२९०। ७) *'कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।'* (३१३। ४) और भरतजी तो प्रेमके समुद्र हैं फिर उनके वश क्यों न होंगे? (ख) *'बनी बात'* यह कि माता-पिता और अवध सबको छोड़कर किसी तरह वनको आये, रावण-वधकी आशा हुई। (ग) *'बेगरन चहति'*—भाव कि यदि अब ये लौट गये तो सरस्वतीका अवध जाना व्यर्थ हुआ, रावणवध भी न हुआ, हम सब जैसे-के-तैसे उससे पीड़ित बने रहेंगे। यही बातका बिगड़ना है। 'बात बनना' 'बात बिगड़ना' मुहावरे हैं—कार्य सिद्ध होना, कामका चौपट होना, विफल होना। (घ) *'छलु सोधि'*—भाव कि ऐसा बड़ा छल सोचा जाय कि काम बन जाय।

बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने॥१॥
† कह गुर बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट करि होइहि भाँड़ू॥२॥
मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥३॥
तब किछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥४॥

---

* 'सुप्रेम'—रा० प०, भा० दा०, रा० गु० द्वि०।
† राजापुरमें नहीं है।

शब्दार्थ—'*सुरगुरु*'—ब्रह्माके पुत्र वृद्धतम अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति हुए। देवासुर-संग्राममें देवताओंने इनको अपना आचार्य बनाया। इनकी माताका नाम श्रद्धा और स्त्रीका तारा था। शुक्राचार्यके साथ इनकी स्पर्द्धा रहती थी। ये बुद्धि और वक्तृत्वके देवता और देवताओंके गुरु माने गये हैं। जो कष्ट देवताओंपर पड़ता है उसके निवारणके उपाय ये ही बताया करते हैं।—(महाभारत आदिपर्व अ० ६९) **'भाँडू'**=भंडाफोड़, रहस्योद्‌घाटन, हँसी, सत्यानाश, बरबादी, नष्ट-भ्रष्ट, यथा—***'कहेकी न लाज, प्रिय! अजहूँ न आए बाज, सहित समाज गढ़ राँड़-कैसो भाँड़िगो॥'*** (क० ६। २४) 'बादि'=व्यर्थ, निष्प्रयोजन, फजूल। ***'उलटि परइ'***—उलट पड़ना मुहावरा है।=अपने ही ऊपर आ पड़ती है, अपने ही विरुद्ध पड़ती है।

अर्थ—इन्द्रके वचन सुनते ही देवगुरु मुस्कराये। हजार नेत्र होनेपर भी उसको बिना नेत्रोंका अर्थात् अन्धा ही जाना॥ १॥ गुरुने कहा कि व्यर्थका शोच और छल छोड़ो। यहाँ (इस समय) कपट करनेसे भण्डा फूट जायगा। (भेद खुल जायगा, हँसी होगी और दुर्दशा)॥ २॥ हे देवराज! मायाके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके सेवकके साथ माया (छल) करनेसे वह उलटकर अपने ही सिर पड़ती है॥ ३॥ तब (पिछली बार) जो कुछ किया था वह श्रीरामजीकी मर्जी समझकर किया था और इस समय कुचाल करनेसे हानि ही होगी॥ ४॥

नोट—***'सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने'*** इति। (क) मुसुकाना निरादरसूचक है। दूसरे यह कि अच्छा हुआ जो हमसे कहा, नहीं तो और किसीसे कहता तो इसकी दुर्दशा ही होती, क्योंकि वह ठकुरसोहाती ही कहता। (ख) यह बृहस्पतिजीके मनका विचार है कि कहनेको तो इसके सहस्र नेत्र हैं तो भी इसको भरतजीकी महिमा न सूझी, यह बिलकुल विवेकहीन है, ऊपरी आँखें होनेपर भी अंधा-सा है। मिलान कीजिये—***'अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस।'***, ***'बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़।'*** (६। ३२) स्वार्थपरायण लोगोंका यही हाल है, उन्हें अपनी ही सूझती है।

नोट—२ ***'मायापति सेवक···उलटि परइ सुरराया।'*** (क)—भाव कि प्रयोग उलटकर तुम्हारे सिर पड़ेगा। जैसे प्रह्लाद बचे, होलिका भस्म हो गयी (ख) ***'मायापति'*** का भाव कि जिनकी माया ऐसी है कि ***'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।'*** (७। ७१। ८) उनके सेवकसे माया कौन कर सकता है? ***'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'*** (७। ११६। ६-७) जब वहाँ कुछ न चली तब मूठके प्रयोगकी तरह उलटकर करनेवालेको ही खायेगी। (ग) ***'सुरराया'*** पद साभिप्राय है। भाव कि तुम ऋषि, देव, मुनि सबके साथ सदासे छल (माया) करते आये पर ये सब मायाओंके स्वामीके सेवक हैं। इनपर किसीकी माया नहीं चल सकती, तुम्हारा राज्य जायगा। जो कहो कि 'हमने मायापतिके साथ माया की थी, उनको वन कराया, तब इनके साथ माया करना क्या बात? तो उसपर कहते हैं—***'तब किछु···'***। (पं०)

नोट—३ ***'तब किछु कीन्ह रामरुख···'***। दो बार देवमायासे काम लिया गया। एक तो जब ***'राम हृदय अस बिसमय भयऊ।···बिमल बंस यह अनुचित एकू॥···प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।'*** (२। १०। ४—८), तब सरस्वतीको भेजकर वनवास कराया—***'सुर माया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि।'*** दूसरे जब तमसापर भी अवधवासी लौटाये नहीं लौटते थे तब ***'कछुक देव माया मति मोई।'*** दोनों अवसरोंपर श्रीरामजीकी इच्छा थी। पर अब श्रीरामजीकी इच्छा यह नहीं है कि भरतजीसे भेंट न हो वरन् मिलनेकी इच्छा है। तो अवश्य हमारी माया वहाँ कुछ न कर सकेगी।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ ५॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ ६॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥ ७॥
भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जपु जेही॥ ८॥

अर्थ—हे देवराज! श्रीरघुनाथजीका स्वभाव सुनो। वे कभी भी अपने अपराधसे रुष्ट नहीं होते॥ ५॥ (पर) जो उनके भक्तका अपराध करता है, वह श्रीरामचन्द्रजीकी क्रोधाग्निमें जलता है। अर्थात् भक्तका अपराधी उनके क्रोधसे बच नहीं सकता है॥ ६॥ लोक और वेद दोनोंमें यह इतिहास (कथा) प्रसिद्ध है। इस महिमाको दुर्वासाजी जानते हैं॥ ७॥ समस्त संसार तो रामको जपता है पर रामजी जिनको जपते हैं उन भरतजीके सदृश श्रीरामजीका कौन प्रेमी है? अर्थात् कोई नहीं॥ ८॥

नोट—१ *'निज अपराध'''काऊ'*—नोट ३ देखिये।

* यह महिमा जानहिं दुरबासा *

अम्बरीषजी बड़े भारी भक्त थे। एक बार परम वैष्णव भक्तराज अम्बरीषजीके यहाँ दुर्वासा ऋषि शिष्योंसहित द्वादशीको आ पहुँचे। भक्तराजने उनको निमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि स्नान करके आते हैं। जीमें तो दूसरी ही बात थी। वे स्नानके बहाने गये और द्वादशी वहीं बिता दी। वैष्णवोंको शास्त्राज्ञा है कि एकादशीव्रत करके द्वादशीमें अवश्य पारण कर लें। यदि त्रयोदशीमें पारण हुआ तो यह व्रत व्यर्थ गया। उस दिन द्वादशी दो ही दण्ड थी। द्वादशी बीतते देख भक्तराजको बड़ी चिन्ता हुई कि बिना अतिथिको भोजन कराये कैसे भोजन करें? और नहीं करते तो व्रत जाता है। पण्डितोंने आज्ञा दी कि चरणामृत ले लीजिये। यह भोजन भी नहीं है और पारण भी हो जायगा। राजाने ऐसा ही किया। तत्पश्चात् ऋषि आये और यह जानकर अपना अपमान मान उन्होंने कुपित होकर राजाको भस्म करनेके लिये जटाओंको भूमिमें पटककर *'कालकृत्या'* को उत्पन्न किया। राजा हाथ जोड़े खड़े रहे। कालकृत्या अग्नि ज्यों-ही राजाकी ओर बढ़ी सुदर्शनचक्रजीने, (जो भगवान्‌की आज्ञासे उनकी रक्षाके लिये सदा वहीं रहते थे), तुरत उस अग्निको अपने तेजसे राख कर दिया और ऋषिके दुष्टाचरणसे दुखित हो उनकी ओर बढ़े—फिर क्या था!—*'भाग्यो दिशा दिशा सब लोक लोकपाल पास गयो नयो तेज चक्र चून किये डारै है। ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम देव बुरी दासनको भेव नहीं जानो बेद धारे हैं। पहुँचे बैकुण्ठ जाय, कह्यो, दुःख अकुलाय हाय हाय! राखौ प्रभु! खरौ तन जारे है। मैं तौ हौं अधीन, तीन गुनको न मान मेरे 'भक्तवात्सल्य' गुण सबहीको टारै है॥'* (४०) इति। भक्तिरसबोधिनीटीका) सब लोकोंमें भागते फिरे किसीने शरण न दी। सब चक्रका तेज देख भयभीत हो गये। तब हार मानकर वैकुण्ठमें प्रभुकी शरणमें जा 'त्राहि-त्राहि' किया और कहा आप शरणागतपालक हैं, मैं शरण हूँ, आप आर्तिहरण हैं मैं आर्त हूँ, आप ब्रह्मण्यदेव हैं, मैं ब्राह्मण हूँ—अतएव मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। भगवान्‌ने उत्तर दिया कि ये तीनों गुण मेरे अवश्य हैं पर **'अहं भक्तपराधीनः'** मैं तो भक्तके अधीन हूँ, भक्तवात्सल्यगुणने मेरे उन तीनों गुणोंका अभिमान मुझमें नहीं रहने दिया। साधु मुझको अत्यन्त प्यारे हैं। धन-धाम-धरणी सब छोड़ वे मुझसे ही दिन-रात सरोकार रखते हैं। अतएव मेरे भी संतोंको छोड़ और कुछ नहीं है। यदि तुम चक्रसे रक्षा चाहते हो तो उन्हींकी शरण जाओ, संत बड़े दयालु होते हैं। उनसे अपराध क्षमा कराओ। वे ही बचा सकते हैं। तब अभिमान दूर करके वे राजाकी शरण आये—*'है करि निरास ऋषि आयो नृपपास, चल्यो, गर्व सों उदास चरण गहे, दीन भाख्यो है। राजा लाज मानि, मृदु कहि सनमान करयो, डरयो चक्र ओर कर जोरि अभिलाष्यो है। भक्त निष्काम कभू कामना न चाहत हैं, चाहत हौं बिप्र दूरि करो दुःख चाख्यो है। देखि कै बिकलताई, सदा संत सुखदाई, आई मन माँझ सब तेज ढाँकि राख्यो है।'*—(कवित्त ४२) राजाके पैरों पड़े। उन्होंने प्रार्थना की, तब चक्रजीने अपने तेज छिपा लिया।

२—इसी प्रकार दुर्वासाजीने पाण्डवोंके साथ किया था कि ऐसे समय वनमें पहुँचे जब द्रौपदीजी भी भोजन करके सूर्यभगवान्‌की दी हुई बटलोईको धो चुकी थीं और युधिष्ठिरजीने उनको निमन्त्रित कर दिया था। तब भगवान् कृष्णने आकर रक्षा की; दुर्वासा डरे हुए नदी-तटसे उनके यहाँ लौटकर आयेतक नहीं। (महाभारत वनपर्व अ० २६१—२६३ में विस्तृत कथा है।)

नोट—२ (क) ये हरिभक्तोंसे द्वेष रखा करते थे, क्रोधी थे, इसीसे इन्हें ऐसे अवसर बहुत पड़े।

इसीसे इनका दृष्टान्त दिया कि ये खूब जानते हैं। ऐसा कोई भी छका न होगा जैसा ये छके। पुनः भाव कि वे एक तो मुनि दूसरे ब्राह्मण, फिर महादेवजीके अवतार और अपराध किसका कि जो राजा, मनुष्य और उसपर भी क्षत्रिय सब प्रकारसे छोटा तो भी उनकी रक्षा ब्रह्माण्डभरमें किसीने न की, एक वर्षतक वे भागते ही फिरे। इससे बढ़कर दूसरा भक्तकी महिमा नहीं जान सकता। (पु० रा० कु०) (ख) यदि इन्द्र कहना चाहे कि 'अम्बरीष बड़े भक्त थे उनके लिये ऐसा हुआ पर सबके लिये ऐसा थोड़े ही हो सकता है।' तो उसपर कहा है कि *'भरत सरिस को·····'*। (रा० प्र०) (ग) *'जगु जप राम रामु जपु जेही'* इति। भाव यह है कि जो संत रामनामके जापक हैं उनकी महिमा तो अकथनीय है। भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं कि '**फलं तेषां न पश्यामि भजामि तांश्च पार्थिव॥**' '**गायन्ति रामनामानि सततं ये जना भुवि। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यः पुनः पुनः॥**' (श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश) तब भला जिसको राम जपैं उसकी महिमा कौन कह सकता है? यहाँ मालादीपक अलंकार है। मिलान कीजिये—*'जो पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भक्त को जो कोउ कोटि उपाय करै॥ तकै नीचु जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीच मरै। बेद बिदित प्रह्लाद कथा सुनि को न भक्ति पथ पाउँ धरै॥ गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै। अंबरीषकी साप सुरति करि अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै॥ सो धौं कहा न कियो सुयोधन अबुध आपने मान जरै। प्रभु प्रसाद सौभाग्य बिजय जस पांडुतनय बरिआइ बरै॥ जो जो कूप खनैंगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै। सपने सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सो बिष फरनि फरै॥ हैं काके द्वै सीस, ईसके जो हठि जनकी सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥'* (१—६) (विनय० १३७)

नोट—३ ग्रन्थकारने *'जो अपराध भगत कर करई।·····'* का उदाहरण तो दिया, पर *'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'* इसका उदाहरण न दिया; क्योंकि इसका प्रयोजन न था। प्रसंग यहाँ भक्त भरतजीके साथ छल करनेका है; अतः उसीका दृष्टान्त दिया। निज अपराधका दृष्टान्त पाठकोंके लिये लिखा जाता है—भृगुजीने लात मारी, नारदजीने शाप दिया, परशुरामने दुर्वचन कहे, इत्यादि। कवितावलीमें भी कहा है—*'बेद बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये सुरलोक उजार्‍यो। और कहा कहौं तीय हरी तबहूँ करुनाकर कोप निवार्‍यो (न धारो)। सेवक छोह ते छाँड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहार्‍यो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्‍यो॥'* (क० ७। ३)

मा० हं०—श्रीशुकदेवजीने अपने भागवतमें '**नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः**' इस वाक्यद्वारा जैसी श्रीकृष्णजी और उद्धवजीकी जोड़ी दिखलायी है, तद्वत् ही *'भरत रामही की अनुहारी'* इस उक्तिद्वारा स्वामीजीने भरतजीकी और रामजीकी जोड़ी अपनी रामायणमें दर्शायी है। हमारे मतसे रामजीकी जोड़ीमें भरतजीको बिठलाना यही उनके भरतजीके पात्रकी अप्रतिम श्लाघिष्ठता दर्शाना है।

स्वामीजीने अपने भरतजीका पात्र अत्यन्त संक्षेपमें परंतु परम परिपूर्णतासे और स्वतन्त्रतासे इस तरह दर्शाया है—*'भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम रामु जप जेही॥'* और ऐसा होनेका कारण यही है कि '**परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**' ऐसा जो 'सेवाधर्म' उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति स्वामीजीके भरतजी हैं।

दो०—मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोक समाजु॥ २१८॥
सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहिं सेवक परम पिआरा॥ १॥
मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥ २॥

अर्थ—हे देवराज! रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके भक्तका अनिष्ट (बुरा) मनमें भी न लाना (विचारना, चेतना)। (नहीं तो) लोकमें अपयश, परलोकमें दुःख और नित्यप्रति शोकका समाज बढ़ता जायगा॥ २१८॥ हे सुरेश! हमारा उपदेश सुनो। श्रीरामजीको सेवक परम प्रिय है॥ १॥ वे सेवककी सेवासे सुख मानते हैं और सेवकसे

वैर करनेसे बड़ा भारी वैर मानते हैं। अर्थात् अपनेको उस वैरीका बड़ा भारी शत्रु मानते हैं, एवं यह कि वह सेवकसे नहीं वैर कर रहा है बल्कि हमसे बड़ा भारी वैर विसाह रहा है॥ २॥

नोट—१ *'मनहुँ न आनिअ'''''* इति। (क) भाव कि मनमें ऐसा विचार उठनेसे ही इतना बुरा फल मिलता है तो 'अकाज' करनेपर न जाने क्या दशा हो! *'दिन दिन सोक समाज'* अर्थात् शोकोंकी तादाद बढ़ती जावेगी, समाजसहित साङ्गोपाङ्ग शोक होगा। पुन: (ख)—भाव कि लोकमें भी लोग सीधे निश्छल मनुष्यको कहते हैं कि अमुक बड़े देवता हैं और तुम तो 'अमर' के 'पति' हो। तुमको तो और भी निश्छल होना चाहिये, तुम जो करना चाहते हो वह तुम्हारे योग्य नहीं—(जं० श०)।

नोट—२ *'सेवक परम पिआरा'*, यथा—*'पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥''''' 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी''''॥'* (७। ८६। ८—१०) *'''''सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'* (८७) 'परम प्यारा' का भाव कि प्रिय तो सभी हैं, देवता भी प्रिय हैं पर सेवक परम प्यारा है। *'मानत सुख सेवक सेवकाई'* अर्थात् सेवककी कोई सेवा करे तो उसमें सुख मानते हैं, यथा—*'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानुकूल सूलपानि नवै नाथ नाक को, देबी देव दानव दयावने ह्वै जोरैं हाथ बापुरे बराक और राजा राना राँक को॥'*—(बाहुक) सेवक सेवकाईसे सुख, वैरसे अधिक वैरमें 'प्रत्यनीक' अलंकार है।

जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु* गुन दोषू॥ ३॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ ४॥
तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ ५॥

शब्दार्थ—पूनु=पुन्य। चाखा=स्वाद लिया, चीखा, मजा पाया। बिहारा (विहार)=विचरण, क्रीड़ा, व्यवहार। विषम=विरोधात्मक, कठोर, समानका उलटा।

अर्थ—यद्यपि प्रभु सम हैं, किसीपर न राग (ममत्व, प्रेम) है न रोष, न किसीका पाप, पुण्य, गुण-दोष ग्रहण करते हैं। (तो फिर जगत्‌का व्यवहार कैसे चल रहा है? उसके लिये उन्होंने) संसारमें कर्मको प्रधान कर रखा है। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है॥ ३-४॥ तो भी (ऐसा होनेपर भी) वे भक्त और अभक्तके हृदयके अनुसार सम और विषम व्यवहार करते हैं अर्थात् जो अभक्त हैं एवं भक्तके विरोधी हैं उनके साथ विषम विहार करते हैं॥ ५॥

नोट—१ *'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू'* इति। वे किसीका पाप या दोष नहीं ग्रहण करते, इसका अधिकार उन्होंने यमराजको दे रखा है। पुण्य और गुण नहीं ग्रहण करते, इनका अधिकार उन्होंने ब्रह्माको दे रखा है। (वै०) वे जीवोंके कर्मोंके अनुसार उसे दण्ड अथवा सुख देते हैं—*'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।'* (९२। ४) यही बात देवगुरु आगे कहते हैं—*'करम प्रधान बिस्व करि राखा।'''''*'। इसीसे वे पाप-पुण्यसे अलग सदा एकरस रहते हैं। व्यासजीने वेदान्तदर्शनमें भी कहा है—**'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।'**

श्रीभर्तृहरिजीने भी खूब कहा है—**'ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे विष्णुर्येन दशावतारग्रहणो क्षिप्तो महासंकटे। रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाटनः कारितः सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेष गगने तस्मै नमः कर्मणे॥'** (नीतिशतक ९५) अर्थात् जिस कर्मने ब्रह्माको कुम्हारकी तरह निरन्तर ब्रह्माण्डरचनामें लगा रखा है, विष्णुको बारंबार दस अवतार ग्रहण करनेके संकटमें डाला है, रुद्रको हाथमें कपालपात्र लेकर भिक्षाके लिये फिराता है और सूर्यको आकाशमें नित्य भ्रमणके चक्रमें डाला है उस कर्मको प्रणाम है—यह सब *'कर्म प्रधान'''''* की ही व्याख्या है।

गीतामें आत्माके सम्बन्धमें भगवान्‌ने ऐसा ही (*'लहहिं न पाप पूनु'''''*) कहा है—**'नादत्ते कस्यचित्पापं**

---

* पाठान्तर-पुन्न।

न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥' (५। १५) यह विभु न तो किसीके पापको ग्रहण करता है और न किसीके पुण्यको ही। अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है उसीसे जीव मोहित हो रहे हैं। भाव कि यह आत्मा किसी भी अपने सम्बन्धियोंके रूपमें माने हुए पुत्रादिके पापको—दुःखको ग्रहण नहीं करता—दूर नहीं करता है और न किसी भी प्रतिकूलरूपमें माने हुए विरोधी पुरुषके सुकृत—सुखको ग्रहण करता है। क्योंकि यह विभु है, किसी एक ही देशसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं हैं, देवादिके शरीररूप किसी एक स्थानमें रहनेवाला नहीं है, इसीलिये वह न किसीका सम्बन्धी है और न किसीका विरोधी। ये सब (अनुकूल-प्रतिकूल) भाव वासनाके ही रचे हुए हैं।

इस प्रकारके स्वभाववाले आत्मामें यह विपरीत वासना कैसे उत्पन्न हो जाती है? इसपर कहते हैं कि अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है—ज्ञानके विरोधी पूर्व कर्मोंके द्वारा अपने फलोंका अनुभव करानेकी योग्यता सम्पादन करनेके लिये इसके ज्ञानको सङ्कुचित कर दिया गया है। उस ज्ञानावरणरूप कर्मसे इसका देवादि शरीरोंसे संयोग और उन-उनमें आत्माभिमानरूप मोह भी हो जाता है। उससे फिर वैसे ही आत्माभिमानरूप वासना और उसीके अनुरूप कर्मोंकी वासना उत्पन्न होती है। उस वासनासे विपरीत आत्माभिमान और कर्मोंका आरम्भ होता रहता है। (श्रीरामानुजभाष्य)

नोट—२ '*करम प्रधान बिस्व करि राखा*''''' इति। महाभारत शान्तिपर्वमें इस विषयपर श्रीपराशरजी तथा भीष्मपितामह आदिके वाक्य पढ़ने योग्य हैं। अतः हम उनमेंसे कुछका अनुवाद यहाँ उद्धृत करते हैं। इनसे कर्मके सिद्धान्तपर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

श्रीपराशरजी कहते हैं—'अपना किया हुआ पाप पापरूप ही फल देता है। पापका फल बड़ा ही कष्टप्रद है। उससे प्रभावित मनुष्य अनात्मामें ही आत्मबुद्धि करने लगता है। बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे स्वच्छ हो जाता है, किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह सफेद नहीं होता। इसी तरह पापको भी काले रंगके समान ही समझना चाहिये। जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसका प्रायश्चित्त करनेके लिये पुनः शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह दोनोंका पृथक्-पृथक् फल भोगता है।''''ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाताओंका कथन है। मेरे मतसे तो पुण्य या पाप जान-बूझकर हो या अनजानमें उसका कुछ-न-कुछ फल होता ही है।'

'जिसकी बुद्धि दूषित होती है वह विषयोंके निकट न होनेपर भी सदा उन्हींमें रहता है। जैसे पानी कमलके पत्तेमें नहीं सटता उसी प्रकार अधर्म ज्ञानी पुरुषको नहीं लिप्त कर सकता। किंतु जिस तरह लाह काठमें अधिक चिपट जाती है, वैसे ही पाप अज्ञानी मनुष्यको विशेषरूपसे बाँधता है। अधर्म केवल फल प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करता रहता है, वह कर्ताका त्याग नहीं करता। कर्ताको समय आनेपर उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है।'

श्रीभीष्मपितामहजी कहते हैं—धर्मकी ऐसी गति है कि वह सोते-बैठते, चलते-फिरते और क्रिया करते समय छायाके समान कर्ताके साथ लगा रहता है। जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणा बिना ही अपने समयपर आ जाते हैं, वैसे ही पूर्वकृत कर्म भी अपने परिपाकके समयका अतिक्रमण नहीं करते। जैसे बछड़ा हजारों गौओंमें अपनी माँको पहचान लेता है, वैसे ही पहले किया हुआ कर्म भी अपने करनेवालेके पीछे लगा रहता है।

जिसने पूर्वजन्ममें शुभकर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया है, उसे सुख नहीं मिलता। देह-त्यागके पश्चात् मनुष्यको पुण्यकर्मोंसे ही सुखकी प्राप्ति होती है''''जीव दूसरेके किये हुए शुभ कर्मोंको नहीं भोगता। (पराशरगीता)

जैसे कुम्हार मिट्टीके लोंदेसे जो बर्तन चाहता है, बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही नाना फल भोगता है। जैसे धूप और छाया दोनों एक-दूसरेसे मिले रहते हैं वैसे ही कर्म और कर्ता भी एक-दूसरेसे संबद्ध होते हैं।

अपना किया हुआ दान ही परलोकके मार्गमें पाथेयका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका

ही फल भोगता है। पूर्व जन्मके किये हुए कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। कर्मफलको उपस्थित जानकर अन्तरात्मा अपनी बुद्धिको तदनुकूल प्रेरणा देता है। जो पूर्ण उद्योगका सहारा लेकर तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है; उसका कोई भी कार्य अधूरा नहीं रहता।

जीव-जगत्में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है। पूर्वजन्ममें कुछ किये बिना यहाँ किसीको इष्ट या अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य सोता हो या बैठा हो, चलता हो या विषय-भोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म हर समय साथ लगे रहते हैं। (पराशरगीता)

कर्मका फल पराधीन है। यदि ऐसा न होता तो जीव जो चाहता वही उसकी कामना पूरी होती। बड़े-बड़े संयमी, चतुर और बुद्धिमान् पुरुष अपने कर्मोंके फलसे वंचित देखे जाते हैं तथा गुणहीन, मूर्ख और नीच पुरुष भी किसीके आशीर्वाद बिना ही समस्त कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं। हिंसामें रत, संसारको धोखा देनेवाला कभी-कभी सुख भोगता दिखायी पड़ता है। कोई चुपचाप घर बैठे रहते हैं; उनके पास लक्ष्मी स्वयं पहुँच जाती है, और कोई परिश्रम करनेपर भी भूखे रहते हैं।—यह सब प्रारब्धका दोष है। देखो, वीर्य अन्यत्र पैदा होता और अन्यत्र जाकर संतान पैदा करता है। कभी वह गर्भ धारण करानेमें समर्थ और कभी असमर्थ होता है। कहीं यत्न करनेसे भी संतान नहीं होती और बहुतेरे जो उससे भागते हैं उनके यहाँ अनेक संतानें उत्पन्न होती हैं। कितने ही बहुत तपस्यासे होते हैं पर कुपूत निकलते हैं। बहुत लोग दवा करनेपर भी अच्छे नहीं होते और बहुत-से बिना दवा अच्छे हो जाते हैं। मृग, पक्षी, दरिद्रकी कौन चिकित्सा करता है? प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं।

☞ देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं कर सकते। यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो कोई भी मनुष्य बूढ़ा न होता, न मरता। सब-की-सब कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता।—कर्मोंके फलमें बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। (श्रीनारद-शुकदेवजी)

पु० रा० कु०—(क) *'भगत अभगत हृदय अनुसारा'* इति। यहाँ भक्तका भक्त और भक्तका अभक्त यह अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है, क्योंकि 'रामजीका भक्त और रामजीका अभक्त' अर्थ करनेसे *'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'* से विरोध पड़ता है। प्रकरणके अनुकूल यह अर्थ नहीं है क्योंकि *'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥'* इसीपर जो शङ्काएँ हो सकती हैं उन्हींका यहाँ समाधान है। (ख)—'भक्त और अभक्त' ऐसा अर्थ लेनेका भाव यह है कि *'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥'* (४। ३। ८) भक्त अनेक भावनाओंसे प्रभुका स्मरण हृदयमें करते हैं। उनके हृदयमें सम हैं। और, अभक्त शत्रु मानते हैं। इसलिये उनके हृदयमें शत्रु बनकर विहार करते हैं। [भक्त प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। (शीला)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'तदपि करहिं···अनुसारा'* इति। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता ४। ११) **'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥'** (७। १५) यथा—**'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥'** (गीता १६। १८-१९) भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं कि 'जो जिस भाँति मेरे शरण आता है मैं उसी तरहसे उसको भजता हूँ। पापी, मूढ़, नराधम, मायासे जिनके ज्ञानका अपहरण हो गया है, जो आसुर भावमें स्थित हैं, वे शरणमें नहीं आते। तथा—वे अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ ईश्वरसे द्वेष रखते हैं। उन द्वेष करनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं संसारमें निरन्तर आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। यही भाव इस अर्धालीका है। *'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'* इस पदसे भी विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि अपराध और वैरमें भेद है। अपराध सबसे हो पड़ता है, उससे सरकार अप्रसन्न नहीं होते, यथा—*'रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सय बार हिये की॥'* अभक्त तो दिन-रात ही अपराध करता है, उसे अन्तमें आसुरी

योनिमें जाना है, उसके अपराधविशेषपर क्रोध करनेका कारण नहीं है। पर वह भी यदि भक्तका अपराध करे तो सरकार नहीं सह सकते। सद्यः दण्ड देते हैं, यथा—*'तौ लों न दाप दल्यौ दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।'* [(प० प० प्र०—गीता ४। ११) (उपर्युक्त) का गर्भितार्थ ही यहाँ स्पष्ट किया है। मिलान कीजिये—*'जो अगम सुगम सुभाउ निर्मल असम सम सीतल सदा।'* (३।३२ छंद ४)]

मा० हं०—'इन चौपाइयोंमें क्रमशः ज्ञानी, कर्मकाण्डी और भक्तकी ईश्वरविषयक भावना दर्शायी है। पहिली भावनासे ईश्वर सर्वसाक्षी हैं, परन्तु पूर्ण निष्क्रिय बना रहता है। दूसरी भावनामें ईश्वर न्याय करनेमें पूर्णतासे दक्ष होनेके कारण उसे किसी प्रकारकी मुरव्वत छू नहीं सकती। तीसरी भावना परमेश्वरको प्रेम, कृतज्ञता और औदार्यप्रवण बनाती है। अर्थात् ज्ञानियोंका ईश्वर जो निरुपद्रवी है, तो भी जगत्‌के लिये बिलकुल ही निरुपयोगी है। कर्मकाण्डियोंका परमेश्वर जो बड़ा ही सजावटवाला है, तो भी अन्तमें व्यवसायी (बनिया) ही दिखायी देता है। रहा तीसरा, भक्तोंका, जो स्वभावतः ही दयालु और दिलदार होनेके कारण सभीको सदैव सहायता पहुँचानेका *'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सब साखी॥'* इस प्रकार अपना विरद सँभालता ही रहता है।'

अगुन अलेप* अमान एक रस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥६॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥७॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरतपद प्रीति सुहाई॥८॥
दो०—रामभगत परहित निरत परदुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥२१९॥

शब्दार्थ—**अलेप**=लगाव या सम्बन्धरहित, निर्लिप्त, राग-द्वेष आदि विषयोंसे अलग, बेलौस, किसीसे सम्बन्ध न रखनेवाला। मायारहित। **अमान**=निरभिमान, निरहंकार, अप्रमेय, परिमाण-रहित। **मान**=नापतोल, प्रमाण=अभिमान, गौरव।

अर्थ—श्रीरामजी निर्गुण (तीनों मायिक गुणोंसे परे, गुणातीत, अव्यक्त), निर्लेप, अमान और एकरस हैं। वे ही भक्तके प्रेमके वश सगुण हुए॥६॥ श्रीरामजीने सदा सेवककी रुचि रखी है। वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी हैं॥७॥ ऐसा जीसे जानकर कुटिलता छोड़ो और श्रीभरतजीके चरणोंमें सुन्दर प्रीति करो॥८॥ हे सुरपाल! रामभक्त पराये हितमें तत्पर रहते हैं, पराये दुःखसे दुःखी और दयालु होते हैं। फिर भरतजी तो भक्तशिरोमणि हैं, उनसे मत डरो॥२१९॥

टिप्पणी—१ *'अगुन अलेप अमान एकरस।""'* इति। भक्तोंके प्रेमवश सगुण होते हैं। 'निर्गुण' थे पर अवतीर्ण होकर सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका व्यवहार किया, दिव्य गुणों-(करुणा, भक्तवत्सलता, दया आदि-) को धारण किया। *'अलेप'* थे, पर यहाँ आकर सम्बन्ध जोड़ा—माता, पिता, पुत्र, भ्राता आदि हुए; मायाको धारण किया, यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ।**' *'अमान'* अर्थात् अपरिमित, परिमाणरहित, इयत्ताशून्य हैं, यथा—*'माया गुन ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।'* (१।१९२) वे देश-काल वस्तु-परिमाणसे रहित थे सो वे देश-काल आदिके परिमाणमें आ गये, कभी अवधमें, कभी मिथिलामें, कभी वनमें ही कहे जाने लगे, सर्वव्यापक हैं सो एक ठौर दिखायी देने लगे। यथा—*'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१।१९८) [**अमान**=अहंकाररहित। (रा० प्र०) भक्तोंके लिये मत्स्य, शूकर, नृसिंह आदि रूप धारण करनेमें भी संकोच नहीं करते।] एकरस हैं, सो उन्होंने अनेक रस धारण किये—वात्सल्य, सख्य, दास्य, शृंगार और शान्त सभी रसोंमें विचरण किया। पुनः शत्रु, मित्र सभी कुछ बने। जनकपुरमें नवों रस धारण किये—*'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी*

* राजापुर, रा० गु० द्वि० का यही पाठ है। रा० प्र० और ना० में 'अलेष' है।

तैसी॥' (१।२४१।४) देखिये। यह क्यों? 'भक्तके प्रेम' के अधीन हैं, जो नाच वह नचावे वही नाच नाचते हैं। यथा—'*जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।*' (२०९) मिलान कीजिये '*एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥*' (१।१३।३—५) तथा—'*सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी॥*' (१।५१) से।

टिप्पणी—२ '*भगत पेम बस*' का भाव यह है कि भक्तका प्रभाव ऐसा है कि वह भगवान्‌की प्रकृति-(स्वभाव-) को छुड़ा देता है। '*प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी।*' (१।१८५।७) देखिये। मिलान कीजिये—'*नरतनु धरेहु संत सुरकाजा।*' (१२७।३) '*जिन्ह के हों हित सब प्रकार चित नाहिं न और उपाउ। तिन्हहि लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ।*'''*नहि कोउ प्रिय मोहिं दास सम*'''।' (गी० ५।४५), '*तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥*' (५।४८।८), '*भगति अबसहि बस करी।*' (३। २६ छन्द) इत्यादि।

टिप्पणी—३ '*राम सदा सेवक रुचि राखी*''''' इति। [यदि इन्द्र कहें कि जब विषम विहार करते हैं तो हमारा अधिक संकोच मानेंगे क्योंकि हम लोकपाल हैं। उसपर कहते हैं कि '*राम सदा सेवक रुचि राखी।*' वे सदा सेवककी ही रुचि रखते हैं, देवताओंकी कभी-कभी। (रा० प्र०)] यथा—'*तुलसी रामहिं आपु तें सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहिं कैसे दीजै पीठि॥*' (दो० ४८) अर्थात् सेवककी रुचि पूरी करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा, अपने नियम, अपनी रुचिको छोड़ देते हैं। विदुरकी भाजी, केलेके छिलके खाये, लक्ष्मणजीको साथ लिया, भीष्मपितामहका प्रण रखा, हाथमें चक्र धारण किया, विश्वामित्रके चरण दबाये, शबरीके बैर खाये, इत्यादि। भक्तमाल तो इसका उदाहरण ही है। प्रह्लादके लिये सबमें विकरालरूपसे आ विराजते थे, खम्भेहीसे उन्होंने प्रकट कर लिया। (आगे श्रीभरतजीसे कहा ही है—'*राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेमपन लागी॥ तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू॥ ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥ मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।*' (२६४) इसीपर श्रीभरतजीने कहा है '*निजपन तजि राखेउ पनु मोरा। छोह सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥*' (२६६।८) (ख)—'*सब साखी*'—इसके अनेक उदाहरण जगत्‌में प्रसिद्ध हैं।

टिप्पणी—४ '*करहु भरतपद प्रीति सुहाई*' इति। '*सुहाई*' का भाव कि यह नहीं कि ऊपरसे प्रीति दिखाओ और भीतरसे विरोध मानो। भीतरसे पवित्र प्रीति करो। यदि वह कहे कि वे तो काम बिगाड़ने जाते हैं, हम प्रीति कैसे करें? तो उसपर कहते हैं—'*रामभगत*''''' । इसपर भी धीरज नहीं होता उसपर कहते हैं कि '*स्वारथ बिबस*''''''।

टिप्पणी—५ '*रामभगत परहित निरत*''''' इति। दयालु हैं, अतः पराये दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। दुःखी होते हैं, अतः उनका भला करते रहते हैं। '*परदुख द्रवहिं सुसंत पुनीता।*' (७।१२५।८), '*लागि दया कोमल चित संता।*' (३।२), '*पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥*' (७। १२१), '*संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥*' (७।१२५।६) ये सभी सन्तों और भक्तोंके लक्षण हैं और भरत तो भक्तशिरोमणि हैं; उनमें यह गुण किस दर्जेके होंगे यह कौन अंदाजा कर सकता है।

टिप्पणी—६ '*सुरपाल*'—भाव कि यदि देवताओंका पालन किया चाहते हो तो न डरो। भरत भी उनका पालन ही करेंगे, वे तुम्हारे दुःखको जानते हैं। [पुनः यदि छल करोगे तो देवताओंकी और अपनी खैरियत वा रक्षा न समझो। (प्र० सं०) भरतजीसे तुम्हारे कार्यकी हानि न होगी; अतः डरनेका कुछ भी कारण नहीं। '*भरत नीतिरस साधु सुजाना*' हैं और '*साधु ते होइ न कारज हानी*' यह अटल सिद्धान्त है। (प० प० प्र०)]

☞ डॉक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन—तुलसीदासने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद्‌के निर्गुण ब्रह्मको मानते हुए जो सभी गुणोंसे हीन है तथा जिसके बारेमें केवल यही कहा जा सकता

है कि वह 'यह नहीं है, वह नहीं है' इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुषका विचार मनुष्यके मस्तिष्ककी शक्तिके बाहर है और केवल उसी ईश्वरका पूजन हो सकता है जो निर्गुणसे सगुण हो गया हो।'

रेवरेण्ड एडिविन ग्रीव्स—गोसाईंजीका अभिप्राय यह नहीं था कि वह किसी विशेष मतका वर्णन करें, पर यह कि वह रामकी कथा लिखें। अद्वैतकी शिक्षा हो तो हो, अगुणकी चर्चा हो तो हो, पर इन सब बातोंको त्यागकर तुलसीदास फिर अपना मन रामकी ओर लगाके उनकी स्तुति और प्रशंसा करने लगते। वेदान्ती मत कहनेकी बात है, दिन-प्रतिदिन जीवन व्यतीत करनेके लिये कुछ कामका नहीं। कदाचित् तुलसीदासका मत संक्षेपमें बालकाण्डमें लिखा है—*'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥ मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥'* अगुण ईश्वर केवल शब्दमात्र है। प्रेममय ईश्वर वही हैं जिनपर हम भरोसा रख सकते हैं और जिनसे हम प्रेम रख सकते हैं। (ना० प्र०, निबन्धावली)

देवताओंको गुरु-उपदेश

मा० हं०—इस वर्णनमें भरतजीकी योग्यता दिखायी गयी है। वर्णन बड़ा ही आह्लादकारक है। *'भरत सरिस को रामसनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥'* (२१८।८) इस वर्णनका प्राण है। *'अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत प्रेमबस॥'* उसका देह है *'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* उस देहका व्यवहार है। *'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* उसका हृदय है। और *'राम सदा सेवक रुचि राखी'* यह उसके प्रिय विलास हैं।

सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयसु अनुसारी॥ १॥
स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥ २॥
सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी। भा प्रमोदु मन मिटी गलानी॥ ३॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ। लगे सराहन भरत सुभाऊ॥ ४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और देवताओंका हित करनेवाले हैं। और, भरतजी श्रीरामजीकी आज्ञाका अनुसरण (उसके अनुसार चलनेवाले) करनेवाले हैं॥ १॥ तुम स्वार्थके विशेष वश होकर व्याकुल हो रहे हो। इसमें भरतजीका दोष नहीं, यह तुम्हारा मोह (अज्ञान) है॥ २॥ देवगुरु बृहस्पतिकी श्रेष्ठ वाणी सुनकर देवश्रेष्ठ इन्द्रके मनमें बड़ा आनन्द हुआ और दुःख और सोच मिट गया॥ ३॥ तब प्रसन्न होकर देवराज फूल बरसा-बरसाकर भरतस्वभावकी प्रशंसा करने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सत्यसंध प्रभु·····'* इति। सत्यसंध हैं, अतएव *'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव समुदाई॥'* (१। १८७) इन अपने वचनोंको अवश्य सत्य करेंगे। पुनः, चित्रकूटमें भी उन्होंने ढाँढस दिया है—*'करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥'* (१३४।४) देखिये। पुनः, *'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥'·····'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥'* (४२। २) *'बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।'* (५३) इत्यादि वचन झूठे नहीं करेंगे। महाराजने भी सुमन्त्रसे कहा था—*'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* (८२। १) वही भाव यहाँ है, वे सत्यसंध हैं, लौटेंगे नहीं। 'प्रभु' हैं अर्थात् रक्षा करने और प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये समर्थ हैं, असमर्थ होते तो चाहे लौट भी जाते। *'सुर हितकारी'* हैं, सदासे देवताओंके हितैषी हैं, न लौटनेमें ही देवकार्य हो सकता है; अतः न लौटेंगे। जो कहें कि भरतके प्रेमसे लौटेंगे; उसपर कहते हैं कि वे तो श्रीरामजीके आज्ञानुवर्त्ती हैं, जैसी रामजी आज्ञा देंगे वैसा ही ये करेंगे, अपना हठ नहीं करेंगे। यह तुम्हारे मोहका दोष है कि तुम भरतजीसे डरते हो।

टिप्पणी—२ (क) *'सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी'* इति। देवगुरुकी उत्तम सलाह सुनकर मान ली; अतः *'सुरबर'* कहा। उन्होंने कहा था कि *'छोभु छल छाँड़।'* यहाँ उसका चरितार्थ है—*'भा प्रमोद मन मिटी गलानी।'* सुरगुरुका उपदेश २१८ (२) *'कह गुर बादि छोभ छल छाँड़'* से *'भरत दोसु नहिं राउर मोहू'* तक है। रामस्वभाव २१८ (५) *'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।'* से *'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी।'* (२२०। १) तक है। उपक्रम *'कह गुर'''* और उपसंहार *'सुनि सुरबर सुरगुर बर बानी।''''* है। (ख)—इसे 'वर वाणी' कहा, क्योंकि इसमें श्रीरामस्वभाव, श्रीभरतस्वभाव और भक्तका महत्त्व वर्णन है। इन्द्रके प्रयोजनकी सिद्धि है। उसने सोचा कि भला हुआ कि माया न रची, नहीं तो दुर्गति होती; अतः प्रमोद हुआ। (पं०)

एहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं॥५॥
जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहुँ चहुँ पासा॥६॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥७॥
बीच बास करि जमुनहिं आए। निरखि नीरु लोचन जल छाए॥८॥

दो०—रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज॥२२०॥

शब्दार्थ—'पासा'=दिशा, यथा—*'नगर सँवारहु चारिहु पासा'* (१। २८। ७। ४)। पषान (पाषाण)=पत्थर। द्रवना=पिघलना।

अर्थ—इस प्रकार भरतजी मार्गमें चले जा रहे हैं। उनकी (प्रेमकी) दशा देखकर मुनि और सिद्ध ललचाते और सराहते हैं (कि ऐसी दशा, ऐसा अनुराग हममें भी कभी होगा? हम मननशील और सिद्ध व्यर्थ हुए जब यह अनुराग हमें न नसीब हुआ)॥५॥ जभी जिसी समय वे 'राम' कहकर ऊँची लम्बी साँस लेते हैं तभी मानो चारों ओर आस-पास प्रेम उमड़ पड़ता है॥६॥ उनके स्नेहमय वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं। पुरवासियोंका प्रेम वर्णन नहीं किया जा सकता॥७॥ बीचमें (एक जगह) निवास करके यमुनातटपर आये। जल देखकर नेत्रोंमें आँसू भर आये (अर्थात् श्यामवर्ण जल देखनेसे श्यामवर्ण प्रभुका रूप ध्यानमें आ गया)॥८॥ श्रीरघुनाथजीके श्याम रंगका सुन्दर जल देखकर समाजसहित रामविरह-समुद्रमें भरतजी डूबते-डूबते विवेकरूपी जहाजपर चढ़ गये। (अर्थात् विरह करुणामें बहुत विह्वल होने लगे थे तब यह विचार मनमें आ गया कि अरे! अभी तो यह नकली रंगमात्र देखकर इसीमें मग्न हुए जाते हैं तो आगे क्या होगा? अभी तो रामदर्शन करना है, यहीं रुक जाना ठीक नहीं।)

नोट—*'एहि बिधि'''* इति। (क) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसा ऊपर *'राम सखा कर दीन्हे लागू। चलत'''॥'* (२१६। ४) से यहाँतक कह आये। रामसखाके हाथका सहारा लिये हुए, नंगे पैर, बिना छातेके चले जा रहे हैं, श्रीरामजीके मार्गकी कथाएँ पूछते और सुनते जाते हैं, विश्रामके स्थानों, वृक्षों आदिको देखकर प्रेम उमड़ पड़ता है। इस दशाका प्रभाव देवतादि चेतन और पृथ्वी मेघादि जड़ जीवोंपर भी पड़ता है, वे फूल बरसाते हैं, पृथ्वी कोमल हो जाती है, मेघ छाया करते हैं। सुरपतिको चिन्ता होती है, देवगुरुके समझानेसे उसे शान्ति प्राप्त होती है—इत्यादि *'एहि बिधि'* है। (ख) *'दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं'*— आगे चित्रकूटसे लौटनेपरके नेम व्रतादिपर कहा है कि *'सुन ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥'* (३२६। ४) प्रायः यही भाव यहाँ भी है।

नोट—२ *'उमगत पेमु'''* अर्थात् जब प्रेम इतना बढ़ जाता है कि हृदयमें नहीं समाता तब वे ऊर्ध्व श्वास लेते हैं। इस श्वासके द्वारा वह प्रेम उमड़कर बाहर निकलकर चारों ओर फैल जाता है। जैसे नदियाँ बहुत बढ़ती हैं तब उमड़कर बाहर चारों ओर उनका जल फैल जाता है। जो लोग देखते, वे भी प्रेमसे भर जाते थे। सभी 'राम-राम' प्रेमसे कहने लगते थे।

पं०—चारों ओर प्रेम कैसे उमड़ सकता है? उसपर कैमुतिकन्यायसे कहते हैं कि जब वज्र-पत्थर-से वनवासी पिघल जाते हैं तो पुरजनका प्रेम कैसे कहा जाय?

नोट—३ *'द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।'*—यहाँ कुलिश और पाषाणसे यह अर्थ भी ले सकते हैं कि कुलिश धारण करनेवाले इन्द्र और पत्थर वज्र हृदयवाले कोल-भील आदि जो कोई भी थे, वे भी पिघल जाते थे। पुनः भाव कि वज्र पाषाण ऐसे कठोर जड़ भी जब पिघल जाते थे तो मनुष्यकी क्या कहें? श्रीभरतमिलापके समय चित्रकूटके पाषाण भी पिघल गये थे यह प्रसिद्ध है। कामदगिरिकी परिक्रमामें वह स्थान इस बातकी साक्षी दे रहा है। हम जामदारजीसे सहमत हैं कि ☞ 'इसमें कविने भरतजीके प्रेमका प्रभाव दिखाया है। इसको जो अतिशयोक्ति समझें उनके लिये कहा जा सकता है कि उन्हें भक्तिकी कल्पना ही नहीं। कदाचित् कोई ऐसा भी कह सकेंगे कि उनके लिये कविने यह ग्रन्थ ही निर्माण नहीं किया। पर हम यही कहेंगे कि उनकी प्रकृतिके लिये भारतवर्षकी हवा ही अनुकूल नहीं।'

नोट—४ *'निरखि नीरु लोचन जल छाए'*—भाव कि नील वर्ण देखकर श्रीरामजीके कोमल शरीरकी स्मृति हो आयी। ऐसे सुकुमार होकर *'सहत दुसह बन आतप बाता'* *'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुसपात।'''* इत्यादि दुःख कैसे सहते होंगे, यह विचार आते ही दुःखी हो गये, अश्रु निकल पड़े। ☞ विरही भगवत्प्रेमीकी यही दशा होती है। नील श्याम वर्णसे शरीरकी, पीतसे पीताम्बरकी, लालसे अरुण चरणोंकी या ओष्ठोंकी, भृङ्गपुञ्जसे अलकावलीकी इत्यादिसे अङ्ग-अङ्गकी स्मृति जाग्रत् होती है और विरह-व्यथा बढ़ती है।

'रघुबर बरन', यथा—*'उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम॥'* (१०९) मग्न होनेका भाव कि देहकी सुधि न रहती थी, आगे चलना है यह भी भूल जाते थे—(शिला)। मनको समझाया कि अब पहुँचे, वियोगके दिन कटे, अब सुस्ताओ मत, न विकल ही हो, धैर्य धारण करो। (बै०)

वि० त्रि०—*'रघुबर बरन''''जहाज।'*—जितना आगे बढ़ते जाते हैं, विरहकी उत्कण्ठा बढ़ती जाती है। *'राम बास थल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥'* अब तो प्रभुके शरीर-सम-श्याम यमुनाजल देख लिया। बस विरहके समुद्रमें मग्न होने लगे। मग्न होनेका भाव यह है कि अपनेको ही भूलने लगे। समुद्रमें डूबनेवाला यदि जहाजपर चढ़ जाय तो बच जाता है। भरतजी भी समाजसहित विवेक जहाजका आश्रयण लेकर ही डूबनेसे बचे, अपनेको सँभालना ही विवेक है, यथा—*'प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर।'* इसी भाँति भरतजीने समाजसहित अपने (स्वरूप) को सँभालकर धैर्य धारण किया।

जमुन तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय सम सबहि सुपासू॥ १॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी॥ २॥
प्रात पार भए एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा॥ ३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई॥ ४॥

शब्दार्थ—'खेवा'=नावद्वारा नदी पार करनेका काम, बार, दफा, अवसर, लदाई, उतारा।

अर्थ—उस दिन यमुनाजीके किनारे निवास किया, समयानुकूल सबका सुपास हुआ। अर्थात् समयानुसार भोजन-शयनका सुख सबको मिला॥ १॥ रात-ही-रात घाट-घाटकी अगणित नावें आयीं, जो वर्णन नहीं की जा सकतीं॥ २॥ सबेरे एक ही खेवेमें (सब) नदी पार हुए, रामसखा निषादराजकी इस सेवासे संतुष्ट और प्रसन्न हुए (कि बड़ी जल्दी यह काम हो गया)॥ ३॥ नदीमें स्नान और उसको प्रणाम करके दोनों भाई निषादराजके साथ चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जमुन तीर तेहि दिन करि बासू।'''* इति। यहाँ भरतजी और समाजकी रामदर्शनकी उत्कण्ठा-आतुरता कवि शब्दोंद्वारा दिखा रहे हैं। पूर्व कहा था कि प्रयोगसे *'चले चित्रकूटहिं चितु*

दीन्हें।' मार्गमें ठहराते हैं पर सब स्थानोंपर ठहरनेमें अपूर्ण क्रिया देते हैं—*'बीच बास करि जमुनहिं आए', 'जमुन तीर तेहि दिन करि बासू',* पुनः आगे दोहा २२४ में *'तेहि बासर बसि प्रातहीं चले''''*'। क्योंकि रामदर्शनकी उत्कण्ठा है। पुनः यथा—*'जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन''''॥'* (२२६। २) बसनेकी क्रिया सब जगह अपूर्ण देकर *'चले'* या पर्यायवाची पूर्ण क्रिया देते जाते हैं। *'बास'* से रातको ठहरना सूचित करते जाते हैं। (२२६।२ में *'बसे'* पूर्ण क्रिया है पर उसके साथ ही *'निसि बीते कीन्ह गवन'* कहा है।)

नोट—*'अगनित जाहिं न बरनी'* इति। (क) शृङ्गवेरपुर राजधानी थी, इससे वहाँ बहुत केवट और बहुत नावें थीं ही, इससे विशेष प्रबन्ध न करना पड़ा था। जितनी नावें थीं उन्हींपर सवार कराके चार दण्डमें सबको पार करा दिया था—*'दंड चारि महँ भा सबु पारा।'* (२०२। ८) उतनी नावोंसे पार करनेमें विशेष समय लगा था। यह सोचकर निषादराजने रातभरमें बहुत दूर-दूरके घाटोंसे सब नावें मँगाकर एकत्र कर लीं। कितनी नावें थीं इसका पता नहीं पर इतनी थीं कि सारी सेना और समाज उनमें आ जाय। इसीसे *'अगनित'* कहा। *'जाहिं न बरनी'* से उनकी सजावट भी कह दी। पताका, घण्टियाँ, सुन्दर बैठकों, इत्यादिसे सुसज्जित थीं। (ख) *'प्रात पार भए एकहि खेवा'* इति। यहाँ *'एकहि खेवा'* कहकर जनाया कि पूर्व कई खेवेमें, कई बार नावें आयीं-गयीं तब पार हुए थे। पहली बार चार दण्डका समय लगा था, अबकी प्रातःकाल ही दूसरी तरफ पहुँच गये। इससे सिद्ध होता है कि निषादराज भी आतुर थे कि सब शीघ्र पहुँचकर दर्शन प्राप्त करें। (ग) *'तोषे राम सखा की सेवा'*—प्रसन्नता हुई क्योंकि प्रातःसे कई घण्टे चलनेके लिये मिलेंगे, समय नष्ट नहीं हुआ, प्रथम बार चार दण्ड समय नष्ट हो गया था। इससे यह भी अनुमान होता है कि प्रथम बार प्रसन्नता नहीं हुई थी।

टिप्पणी—२ यहाँसे अब मार्गमें चलनेका क्रम फिर बदला। एक बार शृङ्गवेरपुरपर बदला था। यहाँ शत्रुघ्नजी और निषादराज दोनोंको साथ रखा।

श्रीअवधसे चलते समय सबके आगे गुरुजी थे, उनके पीछे विप्रवृन्द, तब पुरवासी और उनके पीछे रानियाँ थीं। श्रीभरत-शत्रुघ्नजी दोनों भाई साथ थे। वह क्रम प्रथम वास तमसातट, द्वितीय निवास गोमतीतट और तृतीय मंजिल शृङ्गवेरपुरतक रहा। यहाँतक माता कौसल्याकी आज्ञाके अनुकूल दोनों भाई रथपर आये। शृङ्गवेरपुरसे पयान करते समय क्रम बदला। पहले निषादराज सबसे आगे, फिर माताएँ और उनके साथ शत्रुघ्नजी; फिर विप्रवृन्दसहित श्रीवसिष्ठजी और सबके पीछे सेवकों और घोड़ोंसहित श्रीभरतजी। यह क्रम इससे बदला कि कहीं फिर माता रथपर चलनेका हठ न करें तो धर्म-संकटमें पड़ जायँ, इसीसे सबको चलता कर देनेके कुछ देर बाद स्वयं चले जिसमें लोग न जानें कि पैदल चल रहे हैं, किंतु समझें कि घोड़ेपर पीछे आयेंगे। प्रयागमें पहुँचनेपर सबको पता चला कि वे पैदल ही आये। अब सबको सेवकोंद्वारा इनका दृढ़ भाव और निश्चय ज्ञात हो गया कि ये सवारीपर न जायेंगे, इन्होंने कहा है—*'राम पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥ सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।'* अतएव सभी सेवक-सखाओंको ग्लानि हुई कि ये ठीक कहते हैं, हम सेवक और सखा होकर सवारीपर चल रहे हैं, पर बड़ा अनुचित है अतएव अब वे भी इनके साथ हुए। बात उचित है, इनका सच्चा प्रेम है, अतः अब कोई हठ नहीं करता। अतः फिर पहला क्रम हो गया—गुरु, विप्रवृन्द सब राजसमाज। केवल इतना भेद हुआ कि अब सेवक, सुहृद्, मन्त्रिपुत्र और निषादराज भी दोनों भाइयोंके साथ चल रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'नहाइ नदिहि'*—यहाँ नदी सामान्य पद दिया। पूर्व वर्ण देखकर मग्न हुए थे फिर विचार किया कि कहाँ राम कहाँ यह, नदी नदी ही है। अतएव यहाँ लघु पद दिया।

आगें मुनिबर बाहन आछें। राजसमाज जाइ सबु पाछें॥ ५॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥ ६॥

सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लषनु सीय रघुनाथा॥ ७॥
जहँ जहँ राम बास बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा॥ ८॥
दो०—मगबासी नरनारि सुनि धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह सब मुदित जनम फलु पाइ॥ २२१॥

अर्थ—आगे मुनिश्रेष्ठ अच्छी-अच्छी सवारियोंपर हैं, उनके पीछे सब राजसमाज जा रहा है॥ ५॥ उसके पीछे बहुत ही सादे भूषणवस्त्र और वेषसे दोनों भाई पैदल हैं॥ ६॥ सेवक, मित्र और मन्त्रीका पुत्र साथ है। लक्ष्मणजी, सीताजी और रघुनाथजीका स्मरण करते जाते हैं॥ ७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजीने निवास या विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं॥ ८॥ रास्तेके रहनेवाले स्त्री-पुरुष (यह) सुनकर धाम-कामको छोड़ दौड़ पड़ते हैं और उनके सुन्दर स्वरूप और प्रेमको देख जन्मका फल पाकर सब आनन्दित होते हैं॥ २२१॥

नोट—'*बाहन आछें*' इति। इससे जनाया कि गुरुजी अत्यन्त सुन्दर तेजपुंज रथपर हैं जिनमें उसीके अनुकूल सूर्यके घोड़ोंको मात करनेवाले घोड़े जुते थे। यथा—'*तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रबिहय निंदक बाजी॥.....दूसर तेजपुंज अति भ्राजा॥ तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ हरषि चढ़ाइ नरेस॥*' (१। ३०१) '*सुठि सादे*' से जनाया कि राजसी ठाट-बाटसे नहीं हैं। बिल्कुल सादा पहनाव है, क्योंकि मनमें विचार है कि स्वामी तो वल्कलधारी हैं, हम ठाट-बाटसे रहें यह महा अनुचित है। अ० रा० के भरतजी वल्कलधारी होकर चले हैं। पर मानसकल्पमें ऐसा नहीं है, वे अभी वल्कलधारी नहीं हुए क्योंकि आशा है कि श्रीरामजीका वनमें ही राज्याभिषेक कराके ठाट-बाटसे वनसे लौटा लावेंगे। आगेके '*बेषु न सो सखि सीय न संगा*' से भी इसकी पुष्टि होती है।

पु० रा० कु०—'*सेवक सुहृद सचिवसुत साथा*' इति। शृङ्गवेरपुरसे प्रयागतककी मंजिलमें किसीने न जाना था कि ये पैदल जा रहे हैं, अब सबको मालूम है। अतएव जो उनके बराबरीके हैं, वे साथ हो गये।

नोट—'*सुमिरत लषनु सीय रघुनाथा*' इति। कोई-कोई कहते हैं कि साथ लेनेका कारण यह है कि शत्रुघ्नजी लक्ष्मणजीके छोटे भाई हैं; इनको देखकर वे प्रसन्न होंगे और गुहको देखकर रामजी प्रसन्न होंगे, अतः हमपर अवश्य कृपा करेंगे। २२१ (७) देखिये। पर इसके पूर्व भी तीनोंका स्मरण करना कह आये हैं, यथा—'*आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लषन सहित सिय रामू॥*' (२०३। ३) श्रीलक्ष्मणजीको परम बड़भागी जानकर उनका स्मरण करते हैं, तीनोंके दुःखका कारण अपनेको बार-बार समझते हैं, इससे भी तीनोंका बारंबार स्मरण करना सम्भव है, प्रायः जो लोग भगवान् और उनके भक्तोंका स्मरण करते हैं भगवान् और भक्त भी उनका स्मरण करते हैं और श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीने तो रात-रातभर स्वयं भरतजीका स्मरण किया है। तब भरतजी तीनोंका स्मरण क्यों न करेंगे। भरद्वाजजीने स्वयं उनसे कहा है—'*लषन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥*' (२०८। ४) अतः तीनोंका स्मरण स्वाभाविक है।

'*धामकाम*' और '*जनम फलु*' पर भाव लिखा जा चुका है। ११४ (२) '*चलहिं तुरत गृह काज बिसारी*' और बा० २२० (२) '*धाए धाम काम सब त्यागी*' देखिये। सचिवसुत सुमन्त्रका पुत्र अभिनन्दन है, प्रतापी और चित्रसेन आदि सुहृद् हैं।

कहहिं सपेम एक एक पाहीं। रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं॥ १॥
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली॥ २॥
बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा॥ ३॥
नहि प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहि भेदा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पाहीं**=से। **बपु**=शरीर, डीलडौल। **बय**=अवस्था, उम्र। **रूपु**=सौन्दर्य। **चाली**=चाल। **अनी**=सेना। चतुरंगा=चतुरङ्गिणी।

अर्थ—ग्रामीण स्त्रियाँ एक-एकसे प्रेमसे कहती हैं—हे सखि! ये राम-लक्ष्मण हैं कि नहीं॥ १॥ हे सखी! अवस्था, शरीर, डील-डौल, रंग, रूप वैसा ही है। शील-स्नेह भी उन्हींके सदृश हैं और चाल भी वैसी ही है॥ २॥ (परंतु) हे सखि! इनका न तो वह वेष है और न सीताजी संगमें हैं और इनके आगे चतुरङ्गिणी सेना चल रही है॥ ३॥ इनका मुख प्रसन्न नहीं है। मनमें खेद है। हे सखी! इस भेदके कारण सन्देह होता है॥ ४॥

नोट—१ *'रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं*·····' इति। (क) *'सखि'* सम्बोधनसे सूचित होता है कि आगेकी सब वार्ता स्त्रियोंमें ही हो रही है। यद्यपि मार्गनिवासी स्त्री-पुरुष सभी समाचार सुनकर दर्शनोंके लिये गृहकार्य छोड़-छोड़कर चले हैं तथापि पुरुष लोग तो दर्शन पाकर अपना जन्म सफल समझकर आनन्दित हुए। बस इतनेसे ही वे तृप्त हो गये पर स्त्रियाँ इतनेसे तृप्त नहीं हुईं। वे आपसमें इनके सम्बन्धकी वार्ता भी कर रही हैं। *'एक एक पाहीं'* अर्थात् एक स्त्री दूसरेसे कहती है, इस तरह परस्पर बातें कर रही हैं। प० प० प्र० स्वामीजी ठीक ही कहते हैं कि 'इससे यह भी जान पड़ता है कि स्त्रियोंमें रामप्रेमभावना और निरीक्षणचातुरी अधिक थी'। (ख) *'रामु लषनु सखि होहिं कि नाहीं'* से यह भी सिद्ध होता है कि इन्होंने प्रथम बटोही श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके दर्शन किये थे। *'सखि'* सम्बोधनसे यह भी सूचित किया कि पुरुषोंको संदेह नहीं हुआ, वे सब बात जानते हैं। स्त्रियोंमें ही किसी-किसीको संदेह हो गया है, इससे अपनी शङ्का दूसरेसे कहती हैं। इसी बहाने परस्पर चर्चा होने लगी। इसमें संदेहालङ्कार है। (ग) इसी प्रकार जनकपुरमें स्त्रियोंको और हनुमान्‌जीको अवधमें सन्देह हुआ था।—*'सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ श्याम गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं-देखि जे आए॥ कहा एक मैं आजु निहारें। जनु बिरंचि निज हाथु सँवारें॥ भरत रामही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ लषन सत्रुसूदन एक रूपा। नखसिख ते सब अंग अनूपा॥'* (१। ३११। ३—७) *'भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। राम लषन रन जीति अवध आये कैधों मोहि भ्रम कैधौं काहू कपट ठयो है॥'* (गी० ६। ११)

नोट—२ *'बय बपु बरन रूप सोइ आली।*·····' इति। (क) इससे *'भरत राम ही की अनुहारी।*···*सहसा लखि न सकहिं*·····*।'* (१। ३११) को चरितार्थ किया। अवस्था, शरीर, रंग, रूपादिमें भेद न देख पड़ना 'मीलित अर्थात् सामान्य' अलंकार है। सब एक ही दिन अथवा तीन दिनके भीतर पैदा हुए; अतः अवस्था एक है, कुछ घंटोंकी छुटाई-बड़ाई है। सबका सत्ताईसवाँ वर्ष है। श्रीराम-लक्ष्मण श्यामगौरकी जोड़ी हैं वैसे ही श्रीभरत-शत्रुघ्न श्यामगौरकी जोड़ी हैं। रूप, शील भी एक-सा है। यथा—*'चारिउ रूप सील गुनधामा।'* (१। १९८। ६) जैसा स्नेह श्रीरामलक्ष्मणमें है, वैसा ही श्रीभरतशत्रुघ्नमें है। यथा—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥'* तथा—*'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* (१।१९८।३-४)

नोट—३ *'बेषु न सो सखि*·····' इति। वे वल्कल धारण किये थे, ये राजकुमार वेषमें हैं। उनके साथ श्रीसीताजी थीं, किन्तु यहाँ वे नहीं हैं। वे प्रसन्नमुख थे, ये उदास हैं। इन कारणोंसे भेद ज्ञात होना 'विशेषकोन्मीलित अलङ्कार' है।

तासु तरक तिय गन मन मानी। कहहिं सकल तोहि* सम न सयानी॥ ५॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुर बचन तिय दूजी॥ ६॥
कहि सपेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि रामराज रस भंगू॥ ७॥

* 'तेहि'—(ला० सीताराम)। अर्थात् इसके समान।

भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी॥८॥
दो०—चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥२२२॥

शब्दार्थ—**तरक** (तर्क)=हेतुपूर्वक युक्ति, दलील, किसी वस्तुके विषय अज्ञात तत्त्वको कारणोपपत्ति द्वारा निश्चित करनेवाली उक्ति या विचार। **मन मानी**=मनमें जँची, पसन्द पड़ी, अच्छी लगी, यथा—*'मन माना कछु तुम्हहि निहारी।'* (३।१७।१०), *'कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना॥'* (१।२१४।६) **फुरि**=सत्य, सच्ची। **पूजी**=सम्मान किया।—विशेष नोट १ में देखिये। **दूजी**=दूसरी। **प्रसङ्ग**=सम्बन्ध, वार्ता, विषय, प्रकरण, प्रस्तावना। **कथाप्रसंगू**=कैसे-कैसे वर माँगा गया, किस तरह वनवास हुआ, इत्यादि सब प्रकरण-सहित कथा=समाचार। **कथा-प्रसङ्ग**=कथाका प्रसङ्ग; सब विषय वार्ता। विशेष *'औरौ कथा अनेक प्रसंगा।'* (१। ३७। १५) में देखिये। **रस**=आनन्द। **भङ्ग**=विनाश, विध्वंस, बाधा, रुकावट। **सुभागी**=सुभागको, सौभाग्यको।

अर्थ—उसका तर्क दूसरी स्त्रियोंके मनको भाया (वा, उन्होंने उनको मान लिया)। सब कहने लगीं कि तेरे समान कोई चतुर नहीं है॥५॥ उसकी प्रशंसा करके, 'तेरी वाणी सत्य है' इस तरह उसका आदर सम्मान करके दूसरी स्त्री मीठे कोमल वचन बोली॥६॥ प्रेमसहित सब कथा-प्रसङ्ग कहकर कि जिस प्रकार रामराज्याभिषेकका आनन्द नष्ट हुआ॥७॥ फिर भरतजीके शील, स्नेह, स्वभाव और सौभाग्यकी* सराहना करने लगी॥८॥ पैदल चलते फल खाते, पिताका दिया हुआ राज्य त्याग कर रघुवर रामजीको मनाने जा रहे हैं। आज भरतजीकी समताका कौन (वैरागी, अनुरागी और त्यागी) है? अर्थात् कोई भी नहीं॥२२२॥

नोट—१ *'बानी फुरि पूजी'*—(क) देवी-देवताके प्रसन्न करनेके लिये कोई कर्म—फूल-पत्ती चढ़ाना आदि—'पूजना' कहलाता है। इस कृत्यसे उसमें पूजककी श्रद्धा, सम्मान प्रकट होता है। इसी भावसे इसका अर्थ 'आदर-सत्कार करना' लिया जाता है। (ख) 'फुरना' सं० स्फुरणासे बना है। इसका अर्थ है 'पूरा उतरना, सत्य ठहरना, ठीक निकलना, सच होना', यथा—*'सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥'* (२०। ६) *'फुरी तुम्हारी बात कही जो मोसों रही कन्हाई'*—(सूर)। यहाँ प्रशंसारूपी फूलोंसे उसकी पूजा की। दीनजी कहते हैं कि यह अवधी मुहावरा है। 'पूजी=तेरी वाणी सत्य है, पूजने योग्य है, तू ठीक कहती है।

नोट—२ *'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि·····'*, यहाँ तीन बातें दिखायीं। इन्हींके विचारसे फिर कहती हैं कि *'सरिस को आजु'*। पैदल चलना मनाने जाना यह अनुराग, फल खाना यह त्याग (ऊपरका), (भीतरसे) वैराग्य कैसा कि पिताने राज्य दिया, उसको न लिया छोड़ दिया। अथवा, जो दशा उनकी इस समय प्राप्त है उस सबके लिये *'को आजु'* कहा। ऐसा सौभाग्य, ऐसा अनुराग किसका होगा? (पु० रा० कु०), (ख)—यहाँ पैदल चलनेसे विषयरस रूखे, प्राप्त राज्यको कुलकलङ्क समझ त्याग देनेमें धर्म और नीतिमें निपुण जनाया। (वै०) पूर्व कहीं भरतजीका फलाहार करना नहीं लिखा। यहाँके उल्लेखसे सर्वत्र फलाहार करना समझ लें।

प० प० प्र०—इन स्त्रियोंके वचनोंसे यह भी सूचित करते हैं कि रामदर्शनका परिणाम यह हुआ कि इन वनवासी स्त्रियोंमें भी त्याग, वैराग्य, रामप्रेम इत्यादिकी रुचि बढ़ गयी है। *'ते सब भए परमपद जोगू।'* को यहाँ चरितार्थ किया। विषयी, बद्ध जीवोंके मुखसे ऐसे वचन कभी नहीं निकलेंगे—*'यह रघुनंदन दरसप्रभाऊ'* है।

---

* रा० प्र० ने 'सुभागी' को उस स्त्रीका विशेषण माना है। भरतजीके शील-स्नेह आदिका वर्णन कर रही है, अतः सुन्दर भाग्यवाली है। पर, 'सुभाग्य' का प्राकृतरूप 'सुभागि' है। यहा दीर्घ ईकार स्त्रीलिंगका चिह्न नहीं है।

भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥१॥
जो किछु कहब थोर सखि सोई। राम बंधु अस काहे न होई॥२॥
हम सब सानुज भरतहिं देखें। भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखें॥३॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकइ जननि जोगु सुतु नाहीं॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजीका भाईपना, भक्ति और आचरण कहने-सुननेसे, दुःख दोषके हरनेवाले हैं॥१॥ हे सखि! इनके विषयमें जो कुछ भी कहा जाय वह थोड़ा ही है। ये श्रीरामजीके भाई हैं, ऐसे क्यों न हों?॥२॥ छोटे भाईसहित भरतजीको देखकर हम सब स्त्रियोंकी गिनतीमें धन्य एवं धन्य स्त्रियोंकी गणनामें हुई हैं॥३॥ श्रीभरतजीके गुण सुनकर और उनकी दशा देखकर सब स्त्रियाँ पछताती हैं (और कहती हैं कि) यह पुत्र कैकेयी (ऐसी) माताके योग्य नहीं॥४॥

नोट—१ *'भायप भगति भरत आचरनू'''''* 'इति। (क)—भरतजीमें भाईपन बहुत है, इसलिये उसे प्रथम कहा, यथा—*'भयउ न भुअन भरत सम भाई।'* (२५९। ४) **'भायप'**=भाइयोंके प्रति भाव, अनुराग। भक्ति ज्येष्ठ (अपनेसे बड़े) में और आचरण माता-पिता-भाई-स्वामी-सेवक इत्यादि सबके प्रति। यथा—*'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी'*, इत्यादि। (पु० रा० कु०) अथवा, 'भाईपनकी भक्ति और आचरण'। राज्य त्याग दिया, भाईपना न त्याग किया। फल खाते, 'रामसिय, रामसिय' कहते जाते, यह भक्ति है, पैदल जाते हैं यह आचरण है। (रा० प्र०) मेरी समझमें माता-पितामें भक्ति होना तो स्वाभाविक है पर भाईमें माता-पितासे भी अधिक भक्ति होना स्वाभाविक नहीं है, उसपर भी राजकुमारोंमें परस्पर प्रेम और भी कठिन होता है, क्योंकि वे तो राज्यमें परस्पर विरोधी होते ही हैं, मनाते हैं कि मरे और कभी-कभी तो विष भी दे देते हैं। राज्यके पीछे तो अपने पिताके भी नहीं होते, भाईकी क्या चली? इस विचारसे *'भायप'* को प्रथम कहा।

(ख) यह भरतचरितका माहात्म्य वा भायप, भक्ति और आचरणकी फलश्रुति ग्रामवासिनियोंके द्वारा कही और स्वयं मानसप्रकरणमें तथा इस काण्डके अन्तमें कहा है। यथा—*'समन अमित उतपात सब भरत चरित जपजाग।'* (१। ४१), *'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥ हरन कठिन कलि कलुष कलेसू।'''समन सकल संताप समाजू।'* (३२६। ५—७) मानसप्रकरणमें चारों भाइयोंके भायप आदिको श्रीसीयरामयश जलका मीठापन और सुगन्ध कहा है। यथा—*'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'* (१। ४२) (प० प० प्र०) स्वामीजी कहते हैं कि 'भरतजीके भ्रातृप्रेम तथा भ्रातृप्रेमानुकूल आदर्श आचरणसे ही राम-कीर्ति-सरयूकी माधुरीमें सुवास पैदा हो गया है। यह इन स्त्रियोंके वचनोंसे चरितार्थ किया'। भायप और आचरणकी महिमा ऊपर दिखायी। भक्ति आदि तथा उनकी महिमा अकथ्य है। यथा—*'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५) *'दुख दूषन हरनू'*, यथा—*'दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।'* (३२६)

२—*'जो किछु कहब थोर'''''* 'इति। (क) मिलान कीजिये—*'मोहिं भावति कहि आवति नहिं भरतजू की रहनि। सजल नयन सिथिल बयन प्रभु गुन गन कहनि॥ आसन बसन अयन सयन धरम गरुअ गहनि। दिन दिन पन प्रेम नेम निरुपधि निरबहनि॥ सीता रघुनाथ लषन बिरह पीर सहनि। तुलसी तजि उभय लोक रामचरन चहनि॥'* (गी० २।८१) शेष-गणेश गिराको भी अगम है, तब कौन कह सकता है? (ख) *'राम बंधु अस काहे न होई'*—कारणके समान कार्यका वर्णन 'दूसरा सम अलंकार' है। मिलान कीजिये—*'अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।'''''* (२०७) *'यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुजन राम लघु भ्राता॥'* (२०८। २) (ये भरद्वाजजीके वचन हैं)।

(ग) *'राम बंधु अस'''''* 'से शङ्का होती है कि 'उसने श्रीरामजीका प्रभाव कैसे जाना?' समाधान यह है कि उसके कुछ पूर्वके पुण्य-संस्कार उदय हो गये। इससे जान गयी। अथवा, श्रीरामदर्शन तथा

भरत-दर्शनसे बुद्धि निर्मल हो गयी है अथवा लोगोंसे सुना है। (पं०) स्मरण रहे कि ये सब वही ग्रामवासिनियाँ हैं जिन्होंने पूर्व श्रीरामबटोहीके दर्शन किये हैं, अपने पति आदिसे उनकी कथा सुनी है और स्वयं श्रीसीतारामजीके शील स्वभावका परिचय प्राप्त कर चुकी हैं। अत: कहती हैं *'राम बंधु अस काहे न होई।'*

३—*'भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखें'*—यहाँ वही भाव समझिये जो *'भयउँ भागभाजन जन लेखें।'* (८८। ५) में कहे गये हैं। धन्य स्त्रियोंकी गणनामें आजसे हम भी हुईं। 'धन्य'=पुण्यवान्, सुकृती, श्लाघ्य, प्रशंसायोग्य, कृतार्थ। हम भी आजसे सुकृती मानी जायँगी, सब हमारे भाग्यकी बड़ाई करेंगे। पुन:, सुकृती, स्त्रियाँ शची, शारदा, भवानी, इत्यादिकी गणना जहाँ होगी वहाँ हमारी भी होगी। इसी भाग्यकी प्रशंसा आगे करती हैं। मिलान कीजिये—*'एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं।'* (१२०।७)

४—*'सुनि गुन''''कैकइ जननि''''* ' इति। मिलान कीजिये—*'जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ।'* (१६१) पुत्रमाताका अनमेल वर्णन 'प्रथम विषय अलंकार' है।

कोउ कह दूषन रानिहि नाहिन। बिधि सबु कीन्ह हमहि जो दाहिन॥ ५॥
कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी। लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥ ६॥
बसहिं कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ येह दरसु पुन्य परिनामा॥ ७॥
अस अनंदु अचिरिजु प्रति ग्रामा। जनु मरुभूमि कलपतरु जामा॥ ८॥
दो०—भरतदरसु देखत खुलेउ मगलोगन्ह कर भागु।
जनु सिंघलबासिन्ह भयेउ बिधिबस सुलभ प्रयागु॥ २२३॥

शब्दार्थ—**दाहिन**=अनुकूल। दाहिने होना मुहावरा है—अनुकूल वा प्रसन्न होना, हितकी ओर प्रवृत्त होना **कुबामा**=खोटी बुरी स्त्री, कुत्सित, कुमार्गमें चलनेवाली। मलीनी=दूषित, मैली, अपवित्र, अस्वच्छ। **मरु**=वह भूमि जहाँ जल न हो और केवल बलुआ मैदान हो। मारवाड़ और उसके आसपासके देशका यह नाम है।—*'मरु मारव महिदेव गवासा।'* (१। ६। ८) **सिंघल**=यह एक द्वीप है जो भारतवर्षके दक्षिणमें है। रामेश्वरके ठीक दक्षिणमें यह द्वीप है। सिंघलके दो इतिहास पाली भाषामें मिलते हैं—महाबंसो और दीपबंसो जिनसे वहाँ किसी समय यक्षोंकी बस्ती होनेका पता लगता है। ऐतिहासिक कालमें यह द्वीप स्वर्णभूमि या स्वर्णद्वीपके नामसे प्रसिद्ध था जहाँ दूरदेशोंसे व्यापारी मोती, मसाला आदि लेने आते थे। रत्नपरीक्षाके ग्रन्थोंमें सिंहल मोती, माणिक्य और नीलमके लिये प्रसिद्ध पाया जाता है। भारतवर्षके कलिङ्ग, ताम्रलिप्ति आदि प्राचीन बन्दरगाहोंसे भारतवासियोंके जहाज बराबर सिंहल, सुमात्रा, जावा आदि द्वीपोंकी ओर जाते थे। वास्तवमें सिंहलनिवासी बिल्कुल काले और भद्दे होते हैं। वहाँ इस समय दो जातियाँ बसती हैं—उत्तरकी ओर तो तामिल जातिके लोग और दक्षिणकी ओर आदिम सिंहली निवास करते हैं।—(श० सा०) त्रेतामें उस समय यहाँका राजा चन्द्रसेन था—(वि० टी०)।

अर्थ—कोई कहती है कि रानीका भी दोष नहीं है, यह सब विधाताने किया है जो हम सबको दाहिने हैं॥ ५॥ कहाँ तो हमलोग लोक और वेद दोनोंकी रीतिसे हीन; तुच्छ, स्त्री, कुल और करनी दोनोंसे दूषित॥ ६॥ बुरे देश, बुरे गाँवमें बसनेवाली (एवं स्त्रियोंमें भी) खोटी स्त्रियाँ, और कहाँ यह पुण्योंका फल स्वरूप दर्शन!* अर्थात् ऐसे महात्माओंका दर्शन बड़े सुकृतोंसे होता है। हममें सुकृत कहाँ, हम इनके दर्शनके योग्य नहीं, पर विधाताने हमपर कृपा करके हमें इनका दर्शन कराया॥ ७॥ ऐसा ही आनन्द और आश्चर्य प्रत्येक गाँव (गाँव-गाँव) में हो रहा है। मानो मरुभूमिमें कल्पवृक्ष जम आया

* अर्थान्तर—'जिस दर्शनका फल हमको बड़े पुण्य लोकोंकी प्राप्ति है।' (पं०)

है॥ ८॥ भरतजीका दर्शन करते ही मगवासियोंके भाग्य खुले (उदय हुए) मानो दैवयोगसे सिंहलवासियोंको प्रयाग तीर्थराज आसानीसे प्राप्त हो गये॥ २२३॥

नोट—१ मगवासिनी स्त्रियोंका परस्पर संवाद *'रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं।'* (२२२। १) से *'कहँ यह दरस पुन्य परिनामा।'* (२२३। ७) तक है। ब्रह्माकी अनुकूलता अपने ऊपर दिखाना अभीष्ट होनेसे कैकेयीके दोषका निवारण किया और उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कहकर दर्शनका महत्त्व कहा। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' और 'सार अलंकार' है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'कोउ कह दूषन रानिहि नाहिन।''''* इति। भाव कि दोष कैसे दें, हमें तो उनकी बदौलत यह दर्शन मिले। मिलान कीजिये—*'जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥ कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहि जोइ लोचन लाहू॥'* (१२२। २-३) हमें तो उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, यह बड़ा उपकार उन्होंने हमारे साथ किया है।

टिप्पणी—२ *'कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी।''''* इति। [(क) *'लोक बेद बिधि हीनी'* कहकर जनाया कि ये कोल-किरातादि अस्पृश्य जातिकी स्त्रियाँ हैं। यथा-*'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥'* (१९४। ३) (प० प० प्र०)] (ख) *'लघु तिय कुल''''* अर्थात् हमारा कुल लघु और हम लघुकुलकी स्त्रियाँ हैं। इससे जनाया कि ब्राह्मणी आदि उच्चकुलकी नहीं हैं। करनी मलिन है। [कमाना-खाना शुद्धाचरण नहीं—(वै०) *'कुल करतूति मलीनी'*—मिलान कीजिये—*'समुझि मोर करतूति कुल।'* (१९५), *'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥ सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।'* (२५१। ३—६) यही कुल और करतूतकी मलिनता है। भाव कि न तो हम पूर्वके सुकृती हैं और न इस जन्ममें पुण्य कर रहे हैं। पूर्वके सुकृती नहीं हैं इसीसे ऐसे पापी कुलमें जन्म हुआ और अब भी हमारी पापमें ही प्रवृत्ति रहती है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'कहँ येह'* अङ्गुल्या निर्देश है, उँगलीसे इशारा करके कहा। 'पुन्य परिनाम'=पुण्यकी परिपक्व अवस्था। यथा—*'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जे देखे॥'* (१२०। ८) ये बेचारी नहीं जानती हैं कि यह दर्शन श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शनका फल है—*'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'* (२१०। ५) (यह भरद्वाजजीका वाक्य है)।

किसी-किसीने *'पुन्य परिनामा'* का यह अर्थ किया है कि यह हमारे पूर्व-पुण्योंका फल है। पर इस अर्थमें वह खूबी नहीं रह जाती जो उत्तरोत्तर अपकर्ष और 'बिधि दाहिन' की है। यह अर्थ असंगत-सा प्रतीत होता है। यहाँ प्रथम विषम अलङ्कार है।

नोट—२ (क) *'अस अनंदु अचिरिजु''''* इति। *'अनंदु'* का उपक्रम *'देखि सरूप सनेह सब मुदित जनम फलु पाइ।'* (२२१) है। परस्पर वार्ता करके दर्शनका आनन्द लूट रही हैं। *'अचिरिजु'* यह कि हमारे भाग्य कहाँ थे कि दर्शन होते सो घर बैठे दर्शन मिले; विधाता हमारे कैसे अनुकूल हो गये, इत्यादि, जो *'कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी'* से *'पुन्य परिनामा'* तक कहा। यही *'अचिरिजु'* है। इसी तरह श्रीरामबटोहीके दर्शनसे ग्राम-ग्राममें आनन्द कहा है—*'गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकूल कैरव चंदू॥'* (१२२। १) (ख) *'जनु मरुभूमि कलपतरु जामा'* अर्थात् असम्भव बात सम्भव हो गयी। मरुभूमिमें कोई वृक्ष नहीं लगता वहाँ वृक्ष लगे एक तो यही असम्भव और फिर कल्पवृक्ष जो देवलोकमें ही रहता है, पृथ्वीपर भी नहीं, वह यहाँ आकर लगे और किसी पुण्यभूमिमें भी नहीं वरन् मरुदेशकी भूमिमें परम आश्चर्य है! (पु० रा० कु०) भाव कि इनका दर्शन हमको अत्यन्त दुर्लभ था। यथा—*'हमहिं अगम अति दरस तुम्हारा। जसु मरु धरनि देवधुनि धारा॥'* (२५०। ७) यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी-४ पं० रा० कु०—'*भरत दरस देखत खुलेउ*…' इति। '*दरस*'= स्वरूप। '*दरस देखत*'=दर्शन करते ही। यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। भाव यह कि जहाँ किसी सामान्य तीर्थका भी दर्शन अप्राप्य है वहाँ ३$\frac{1}{2}$ करोड़ तीर्थोंके राजाका घर बैठे दर्शनका सुखपूर्वक लाभ हो तो आश्चर्य ही है। वैसे ही यमुनापारके लोगोंको सामान्य भक्तोंके ही दर्शन दुर्लभ थे सो उन्हें भक्त-शिरोमणि भरतजीके दर्शन हो गये कि जिनके दर्शनसे भरद्वाजमुनि और तीर्थराजतक अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

पं०—इन लोगोंका संचित पुण्य तो बहुत बड़ा था परंतु कालकी गतिने उसे मुहरबन्द कर रखा था। श्रीरघुनाथजीके दर्शनसे वह कलीके समान खिला और श्रीभरतजीके दर्शनके प्रभावसे वह पूरा खुल गया। जैसे सिंहलद्वीपवासियोंका भाग्य अति दुर्लभ तीर्थराजके दैवयोगसे घरमें ही आ प्राप्त होनेसे उदित हो जावे।

नोट—३ '*सुलभ*' से दिखाया कि इनको बड़ा दुर्लभ था। दैवयोगसे ही दर्शन मिलते होंगे। गोस्वामीजीके समयमें रेल न थी। उस समयके अनुसार यह लिखा गया था। ऐसा कहा जा सकता है। पर यदि '*सुलभ*' से यह भाव लें कि घर बैठे प्राप्त हो गया तो अब भी यह उत्प्रेक्षा बिलकुल ठीक है। और यही भाव पं० रामकुमारजीने लिया है।

नोट—४ (क)—'*अस अनंद अचिरिजु*' ये कविके वचन हैं। अर्थात् स्त्रियाँ प्रत्येक ग्राममें इसी तरहकी बातें करती और आनन्दित होती हैं। पर प्रथम ही दोहा २२१ में '*मगवासी नर नारि सुनि*' ऐसा कहा था और यहाँ मनुष्योंकी चर्चा ही नहीं की गयी। अतएव अन्तमें '*मगलोगन्ह*' शब्द देकर सूचित कर दिया कि स्त्री-पुरुष सभीके भाग्य खुले। (ख)—'*मगलोगन्ह*' और '*प्रतिग्रामा*' एवं '*मगवासी नर नारि*' पदोंसे जनाया कि भरतजीका दर्शन बूढ़े-बच्चे सभीको हो रहा है। क्योंकि ये सबसे पीछे हैं, सेना आदिक लम्बी दूरतक आगे है। जबतक वह ग्रामके आगे बढ़े तबतक सभी पहुँच जाते थे। श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शन सबको न हो पाते थे। बुड्ढे और बच्चे आदि जो पीछे पहुँचते थे उन्हें पछताना पड़ता था। यथा—'*अबला बालक बृद्धजन कर मीजहिं पछिताहिं।*' (१२१) और श्रीभरतदर्शनके लिये किसीको पछताना न पड़ा। (ग)—'*मगवासी…देखि सरूप…जनम फल पाई।*' (२२१) उपक्रम है और '*भरत दरस देखत खुलेउ मगलोगन्ह कर भाग*' उपसंहार है। भाग खुला अर्थात् जन्म सफल हुआ।

नोट—५ प्रयागकी उत्प्रेक्षा की गयी जो चारों पदार्थोंको देनेवाला है। इनके दर्शनसे चारों फलोंकी प्राप्ति जनायी।

पं०—प्रयाग तो त्रिवेणी है, यहाँ सादृश्य कैसे? उत्तर—दृष्टान्तका एक देश ग्राह्य है, किंवा प्रयाग पद एक है। २—त्रिवेणीकी समता भी बनती है। भरत श्याम यमुना, शत्रुघ्न गङ्गा और वसिष्ठ सरस्वती हैं। इनका दर्शन जो बड़े पुण्योंके उदयसे हुआ वही त्रिवेणी स्नान है। अथवा, ३—भरतदर्शनको रामचन्द्रादिके दर्शनका उपलक्षक जान लें तो श्रीरामचन्द्र-भरत यमुना, लक्ष्मण-शत्रुघ्न गङ्गा, सीताजी सरस्वती हैं।

बैजनाथजी यहाँ 'असिद्धविषयावस्तूत्प्रेक्षा' मानते हैं और वीरकवि 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' कहते हैं।

निज गुन सहित रामगुनगाथा। सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा॥ १॥
तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा॥ २॥
मनहीं मन मागहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू॥ ३॥
मिलहिं किरात कोल बनबासी। बैषानस बटु जती उदासी॥ ४॥
करि प्रनामु पूछहिं जेहि तेही। केहि बनु लषनु राम बैदेही॥ ५॥

शब्दार्थ—'उदासी'=विरक्त पुरुष, त्यागी, यथा—'*वह पथ जाय जो होय उदासी। योगी जती तपी संन्यासी॥*' (जायसी) ये संन्यासियोंके समान रहते हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि '*उदासी*' वे हैं जिनको संन्यासमें मुख्य अधिकार नहीं, जैसे क्षत्रिय आदि विरक्त।

अर्थ—अपने गुणसहित श्रीरामजीके गुणोंकी कथा सुनते और श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए भरतजी चले जा रहे हैं॥ १॥ वे तीर्थ देखकर स्नान और मुनियोंके आश्रमों और देवमन्दिरोंको देखकर प्रणाम करते हैं॥ २॥ मन-ही-मन यह वरदान माँगते हैं कि श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंमें स्नेह हो॥ ३॥ किरात, कोल आदि वनवासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, यती और उदासी मिलते हैं॥ ४॥ (उनमेंसे) जिस-तिससे प्रणाम करके पूछते हैं कि श्रीलक्ष्मण-राम-सीताजी किस वनमें हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'निज गुन सहित राम गुनगाथा'* इति। (क) *'सहित'* से अपना गुण गौण और रामगुण मुख्य जनाया। *'निज'* के साथ, एकवचन *'गुन'* दिया और श्रीरामजीके साथ *'गुनगाथा'* पद दिया। *'गाथा'* शब्द बहुवचनसूचक है। यहाँ *'रामगुन गाथा'* कही भी गयी है, यथा—*'कहि सप्रेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि रामराज रस भंगू॥'* और फिर भरतजीके गुण कहकर, (यथा—*'भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी॥' 'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥'* (२२२) *'भायप भगति भरत आचरनू।'''जो किछु कहब थोर सखि सोई॥'*) वे कहती हैं *'रामबंधु अस काहे न होई।'* इनकी बड़ाई भी की गयी और रामसम्बन्ध उसमें लगाया गया। अत: श्रीभरतजी उसे रामगुणगाथा ही मानते हैं।

(ख) *'सुनत जाहिं सुमिरत''''''*'—सुनत और सुमिरत कहकर जनाया कि श्रवण, कीर्तन दोनों भक्तियाँ साथ-साथ करते जा रहे हैं। कथा सुनते हैं, नामका स्मरण करते हैं।

नोट—१ उत्तम लोग अपने गुण सुनते सकुचते हैं और भरतजी तो परम साधु हैं, यथा—*'तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू॥'* (२०५। ७) (यह त्रिवेणी-वाक्य है।) तब ये क्यों सुनते हैं? उत्तर—भरतजीका हृदय ग्लानिसे पूर्ण है, वे समझते हैं कि सृष्टिभर हमको निकृष्ट कहता होगा। जब इनके मुखसे सुना कि ये धन्य हैं, रामभक्त हैं, तब यह समझते हैं कि रामजी तो सबके आत्मा हैं, जब ये ऐसा कहते हैं तो वे मुझे दास मानते होंगे और कृपा भी करते होंगे। यह समझकर रुचिपूर्वक सुनते हैं। (पं०) भरतजीके जो गुण वे कहते हैं वे श्रीरामजीके गुणानुवादसे मिश्रित हैं। वे भरतजीके सेवक भावकी प्रशंसा करते हैं, जिसमें प्रभु श्रीरामजीके कृपा, दया, वात्सल्य आदि गुण लक्षित होते हैं। भरतजी इस प्रशंसामें अपनी प्रशंसाका अनुभव नहीं कर रहे हैं, किंतु इसमें वे प्रभुके ही कृपा आदि गुणोंका अनुभव कर रहे हैं। अथवा यह समझकर अपना गुण भी सुनते हैं कि इसके द्वारा वे प्रभुका गुणानुवाद करते हैं, अर्थात् अपने गुणोंको श्रीरामगुणगाथाका अङ्ग मानकर सुनते हैं, नहीं तो न सुनते। (पं०, पं० रा० कु०) ऊपर टि० १ (क) भी देखिये।

नोट—२ *'तीरथ मुनि''''। ''''निमज्जहिं करहिं प्रनामा। मन ही मन माँगहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू॥'* इति। (क) यहाँ तीर्थस्नान, मुनियों तथा उनके आश्रमोंको प्रणाम, देवमन्दिरोंमें देवताओंको प्रणाम इत्यादि कई कर्मोंको करके उनका फल एकमात्र श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंका अनुराग माँगनेका भाव यह है कि उन्होंने किसी धर्मका त्याग नहीं किया, केवल उन धर्मोंके फलोंका त्याग किया है। वे सब धर्म मानते और करते हैं, पर सब श्रीरामजीके लिये और श्रीरामजीकी आज्ञा समझकर। उन सब कर्मोंको करके वे केवल श्रीसीतारामचरणानुराग ही एकमात्र फल चाहते हैं, ऐसा करनेवालोंके मन-मन्दिरमें श्रीसीतारामजी बसते हैं। यथा—*'सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ। तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥'* (१२९) (वाल्मीकिजीका यह वाक्य यहाँ चरितार्थ हुआ।) (ख) 'मन-ही-मन' वर माँगनेका भाव कि—चलने और शीघ्र चित्रकूट पहुँचनेकी आतुरता है, इससे मनमें ही माँगते चले जाते हैं, रुकते नहीं। अथवा, देवता अन्तर्यामी हैं, वे मनकी जान लेंगे, यह समझकर मनमें ही माँगते हैं। अथवा, मनके विनीत भावका फल विशेष है, इससे मनमें ही माँगा। (पं०) अथवा, दूसरेके सुन लेनेसे फल जाता रहता है, गुप्त रीतिसे वर माँगना विशेष फलप्रद है। (रा० प्र०) स्मरण रहे कि जब त्रिवेणीपर स्नान करके वर माँगा था तब साथमें और मित्र आदि न थे, वे पहले ही पहुँचकर स्नान कर चुके थे, इससे

वहाँ प्रकट माँगा था और यहाँ *'सेवक सुहृद सचिव सुत'* आदि साथ पैदल चल रहे हैं, इससे अपने भावको गुप्त रखे हुए मनमें वर माँगते हैं।

वि० टी०—*'सातों स्वर सातों सर्ग सातों रसातल सिंधु सातों दीप सातों पुरी मुनि मनमें। चारों दिग चारों मुख चारों बेद चारों धाम 'लछिराम' चारों फल चारों जुग जन में॥ नवो रात्रि नवो देवि नवो रस नवो ग्रह नवो खंड नवो भक्ति भाग नौ रतन में। मालाकार मंगल असीसनकी कौंधि भरैं रामजानकीके चरणाम्बुज लषन मैं॥'* (७+९+४=२० चरणनख)

नोट—३ *'मिलहिं किरात'''। बैषानस बटु जती उदासी'* इति।—यती उदासी तो एक हुए, क्योंकि वनवासीसे गृहस्थ कहा, फिर बैषानस बटु ये दो आश्रम कहे, अब एक आश्रम रह गया संन्यासी, सो 'यती' है। अतएव *'उदासी'* उसका विशेषण जान पड़ता है—'उदासीन वृत्तिवाले संन्यासी'। अथवा, उदासीसे और भी विरक्त साधु इन तीनोंसे पृथक् जो मिलते हैं, उनको जनाया। (पु० रा० कु०) प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत कि 'यहाँ 'यती=परमार्थसाधक गृही।' यथा—*'प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥'* (२०६। १) जीव तीन प्रकारके कहे गये हैं—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* उनमेंसे यहाँ केवल दो ही प्रकारके जीव हैं; विषयी यहाँ नहीं हैं—*'रघुनंदन दरस प्रभाऊ'* इसका कारण है।—यह भाव दिखानेके लिये यहाँ *'गृही'* के स्थानपर *'जती'* शब्द दिया गया। यती=प्रयत्न करनेवाला; यथा—**'ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतयो यतिनश्च ते'** इति। (अमरकोष)

नोट—४ *'करि प्रनामु पूछहिं जेहि तेही।'''* इति। (क) कोल, किरात, वनवासी आदि कोई भी हो उसे प्रणाम करके तब पूछते हैं, क्योंकि श्रीरामजी इसी मार्गसे गये हैं, ये सब श्रीरामदर्शनसे पावन और पूज्य हो गये हैं। अथवा, ये सब तीर्थवासी हैं इससे पूजनीय हैं। (पं० रा० कु०) जिस किसीसे भी पूछना उनके प्रेमका आधिक्य सूचित करता है। (पं०) प्रियमिलनकी आतुरतामें ऐसा ही होता है, आदर देकर प्रणाम करके प्रेमसे पूछनेसे वे बतायेंगे भी जो कुछ भी जानते होंगे। कोल, किरातको प्रथम कहा, क्योंकि वनमें प्रायः ये ही विशेष मिलते थे। (ख) *'लषन राम बैदेही'*—लक्ष्मणजीको प्रथम कहनेका भाव यह है कि ये सेवामें रहते हैं, फल, फूल, जल आदि लेनेके लिये ये वनमें बराबर जाते होंगे। अतः इनको देखनेका विशेष अवसर मिला होगा। अथवा, तीनोंका दुःख हृदयमें है, तीनोंका स्मरण करते हैं; वैसे ही तीनोंको एक साथ पूछते हैं।

ते प्रभु समाचार सब कहहीं। भरतहि देखि जनमफलु लहहीं॥६॥
जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लषन सम लेखे॥७॥
एहि बिधि बूझत सबहि सुबानी। सुनत राम बनबास कहानी॥८॥
दो०—तेहि बासर बसि प्रातहीं चले सुमिरि रघुनाथ।
रामदरस की लालसा भरत सरिस सब साथ॥२२४॥

अर्थ—वे प्रभुका सब समाचार कहते हैं और भरतजीको देखकर जन्मका फल पाते हैं॥६॥ जो लोग कहते हैं कि हमने उन्हें कुशलपूर्वक देखा है, उनको वे श्रीरामलक्ष्मणजीके समान प्यारा मानते हैं॥७॥ इस प्रकार सबसे सुन्दर वाणीसे पूछते हैं और श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी कहानी सुनते हैं॥८॥ उस दिन (बीचमें) ठहरकर प्रातःकाल ही श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके चले, सब साथके लोगोंको भरतजीकी-सी लालसा श्रीरामदर्शनकी (और वैसी ही विह्वल दशा) है॥२२४॥

नोट—*'ते प्रभु समाचार सब कहहीं।......'* इति। (गी० २। ६८) यथा—*'बूझत चित्रकूट कहँ जेहि तेहि मुनि बालकनि बतायो। तुलसी मनहुँ फनिक मनि ढूँढ़त निरखि हरषि हिय धायो॥*

पु० रा० कु० १—*'ते प्रिय राम लषन सम लेखे'* इति।—भरतजीको देखकर जन्मफल पाते, क्योंकि यद्यपि ये गृहस्थाश्रममें हैं पर भक्तिसे युक्त हैं। कैसी भक्ति है, वह भी देखिये कि जो कहते हैं कि हमने देखा है,

कुशल हैं, वे श्रीरामलक्ष्मणके समान प्रिय लगते हैं। जो अवस्थामें अधिक हैं, एवं जो वानप्रस्थ, बटु और यती, उदासी हैं, वे रामसम और छोटे एवं कोल-भील आदि लक्ष्मणसम प्रिय हैं। २—*'बूझत सबहि सन'* प्रेमकी अधिकता जनाता है। *'कहानी'*—*'लषन राम सिय पंथ कहानी।'* (२१६। ६) देखिये। ३—[*'सुमिरि रघुनाथ'* इति *'रघुनाथ'* शब्द देकर जनाया कि श्रीभरतजी श्रीरामजीको रघुवीर, रघुबर, रघुराज, रघुपति, रघुनाथ मानते हैं, उन्हींको राजा मानते हैं, अपनेको नहीं; और उनके वियोगमें अपनेको तथा सबको अनाथ समझते हैं। (प० प० प्र०)] ४— *'भरत सरिस सब साथ'* से जनाया कि जैसी उनकी दशा है वैसी ही सबकी हो रही है।

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू॥ १॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥ २॥
करत मनोरथ जस जिय जाकें। जाँहि सनेह सुरा सब छाकें॥ ३॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहबल बचन पेम बस बोलहिं॥ ४॥

शब्दार्थ—'डगि डोलहिं'='डगडोलना'=डगमगाना, लड़खड़ाना, हिलना, काँपना। डगना और डोलना पर्यायवाची हैं, दोनोंका अर्थ 'हिलना, खसकना, जगह छोड़ना' है। पुनः 'डगना'=चूकना, भूल करना। *'छाकें'*= नशेमें चूर, मस्त, शराब आदि पीकर मस्त, मतवाले—*'सुखके निधान पाए, हियके पिधान लाये, ठग के से लाडू खाये प्रेम मधु छाके हैं।'* (गी० १। ६२)

अर्थ—सबको मङ्गल शकुन हो रहे हैं, सुख देनेवाले नेत्र और भुजाएँ (अर्थात् स्त्रियोंके वामनेत्र और बाहु एवं पुरुषोंके दाहिने) फड़क रही हैं॥ १। समाजसहित भरतजीको उत्साह हो रहा है कि श्रीरामजी अवश्य मिलेंगे और दुःख तथा (जीका) संताप (वा, दुःखका दाह) मिटेगा॥ २॥ जिसके जीमें जैसा भाव है वह वैसा ही मनोरथ करता है। सब स्नेहरूपी मदिरासे छके हुए (मतवालेकी तरह) चले जा रहे हैं॥ ३॥ (सबके) अङ्ग शिथिल हैं, रास्तेमें पैर डगमगाते हैं, सब प्रेमवश विह्वल वचन बोल रहे हैं॥ ४॥

नोट—*'जाहिं सनेह सुरा सब छाकें।'* इति।—यहाँ सम अभेद रूपक है।*यहाँ स्नेहका मदिरासे रूपक बाँधकर फिर मदिराके नशेका स्वरूप कहते हैं—*'सिथिल अंग"'।* मतवालेके अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, चलनेमें पैर लड़खड़ाते हैं, मुँहसे शब्द ठीक नहीं निकलते इत्यादि। वही हाल इन लोगोंका है। *'सनेह सुधा'* पाठ जिन लोगोंने कर लिया है वह गलत है, उसका यहाँ रूपक नहीं है और न यह दशा अमृतपानकी होती है। शराबियोंके मनमें मनोरथ भी खूब उठते हैं। *'जस जिय जाकें'*—अर्थात् शृङ्गार, वात्सल्य, सख्य आदि जैसा भाव मनमें है, उसीके अनुकूल मनोरथ हो रहे हैं। हम प्रभुसे इस तरह मिलेंगे, इस तरह बोलेंगे इत्यादि।

गौड़जी—आखिरी मंजिल है। इसीको तय करके भगवद्दर्शन होने हैं। इसीलिये मङ्गल शकुन हो रहे हैं। आज मन्दाकिनीतीर पहुँच जायेंगे। जब श्रीरघुनाथजीका आश्रम पाँच-छः कोस रह गया था, दिन ढल रहा था तभी कामद गिरिके शिखर दीखने लगे। निषादने दिखाया तो लोग प्रेमसे विह्वल हो गये। थके भी हैं तो भी चले जा रहे हैं। मन्दाकिनीतीर पहुँचनेमें दो कोस और बाकी थे कि सूर्यास्त हो गया। लोग थके थे तो भी रुके नहीं, सीधे चले गये। मन्दाकिनीतीर पहुँचकर ही दम लिया।

रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥ ५॥
जासु समीप सरित पय तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा॥ ६॥
देखि करहिं सब दंड प्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥ ७॥
प्रेम मगन अस राज समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥ ८॥

दो०—भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अहमम मलिन जनेषु॥ २२५॥

शब्दार्थ—'सरित पय'=पयस्विनी गंगा नदी। 'बीरा'=भाई, भ्राता, यथा—*'सबै ब्रज है यमुना के तीर। काली*

नाग के फनपर निर्तत संकर्षणको बीर'—(सूर), *'चिरजीवो जोरी जुरे क्यों न सनेह गभीर। को घटि ये वृषभानुजा वे हलधरके बीर'*—(बिहारी), *'बीतें अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर'*— (लं० ११५)। =योधा। **'फिरि'**= लौटकर। **'अहमम'**=अहंकार और ममता, मैं और मेरा। **'जनेषु'**=जनेश=मनुष्योंका स्वामी=राजा। यथा—*'जेहि जनेसु देइ जुबराजू।'* (१४। २) (शीला)।=जनों वा लोगोंमें। (गौड़जीका टिप्पण देखिये) **'अगम'**=जहाँ गुजर भी न हो सके, पहुँचके बाहर, कठिन, दुर्लभ।

अर्थ—श्रीरामसखा निषादराजने उसी समय सहज ही सुहावना सुन्दर पर्वतशिरोमणि (कामदगिरि) उनको दिखाया॥ ५॥ जिसके निकट ही पयस्विनी नदीके तटपर श्रीसीतासहित दोनों वीर भाई निवास करते हैं॥ ६॥ सब लोग दर्शन करके 'जय श्रीजानकीजीवन रामचन्द्रजीकी' ऐसा कहकर दण्डवत् (साष्टाङ्ग) प्रणाम करते हैं॥ ७॥ राजसमाज प्रेममें ऐसा मग्न है मानो रघुराजरामचन्द्रजी लौटकर अवधको चले हों॥ ८॥ भरतजीमें जैसा प्रेम उस समय हुआ वैसा शेषजी भी नहीं कह सकते और मुझ कविको तो वह ऐसा अगम है जैसा अहंता, ममतासे मलिन मनुष्योंको ब्रह्मानन्द॥ २२५॥*

नोट—१ *'रामसखा तेहि समय देखावा।'''* इति। (क) सब स्नेहसुरामें मस्त हैं, आगे नहीं चल सकते। तब निषादराजने उस मदको उतारनेके लिये चित्रकूटका दर्शन कराया जिसमें किसी प्रकार वहाँ पहुँचें। (मा० म०) (ख) प्रेम अत्यन्त हुआ तब दर्शन हुआ और सुख भी वैसा ही हुआ *'जनु फिरि चले'''*'। 'शैल शिरोमणि'—यह पर्वत श्रीरामजीके निवाससे 'शिरोमणि' हुआ। वाल्मीकिजीने जो *'सैल सुहावन कानन चारू।'* (१३२। ४) कहकर *'राम देहु गौरव गिरिबरहू।'* (१२२। ८) कहा था, उसको यहाँ चरितार्थ किया। यहाँ *'सैल सुहावन' 'सैलसिरोमनि सहज सुहावा'* हो गया, 'शिरोमणि' और 'सहज' दो विशेषण बढ़ गये। यही है *'श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई'* और 'गौरव' जो श्रीरामजीके निवाससे उसको मिला। (पु० रा० कु०)

नोट—२ *'बीरा'*—वनमें वीर ही बस सकते हैं। *'जनु फिरि अवध चले रघुराजू'* में *'रघुराजू'* पद देकर जनाया कि मानो राज्यतिलक भी करा लिया—*'बनहिं देव मुनि रामहिं राजू'* यह जो भरतजीने अवधमें निश्चय किया था वह मानो हो गया और *'आवहिं बहुरि अवध रघुराई'* यह जो श्रीभरतजीने अवधमें दरबारके सभासदोंसे आशीर्वाद माँगा था, यथा—*'तुम्ह पैं पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥'* (१८३। ७) वह भी मानो हो गया—यह तो सब समाजकी प्रेमदशा कही। इनसे पृथक् भरतजीकी दशाके विषयमें दोहेमें कहते हैं कि इनकी तो उत्प्रेक्षा की गयी, पर भरतप्रेमकी उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती; क्योंकि वहाँतक बुद्धिकी पहुँच नहीं है, वह प्रेम प्रकृतिसे बाहर है। (पु० रा० कु०)

'कबिहि अगम जिमि'''''अहमम मलिन जनेषु।'

गौड़जी—यहाँ *'जनेषु'* को संस्कृतका तत्सम *'जन'* शब्दके बहुवचन सप्तमीका रूप मानना चाहिये। मूर्द्धन्य 'ष' कार, जिसे मानसमें 'ख' बोलते हैं *'सेषु'* और *'जनेषु'* दोनोंमें है, और शुद्ध है। *'अहमम मलिन जनेषु'* मैं-मेरा आदि अहंकार और ममताके भावसे जिन साधारण लोगोंका मलिन है, उनके हृदयमें जैसे ब्रह्मसुख अगम है, नहीं अनुभूत हो सकता, यथा—*'तुलसीदास मैं मोर गएँ बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै।'* (वि० १२०), उसी तरह कविके मलिनता भरे अस्वच्छ हृदयमें भरतके प्रेमकी पवित्र कल्पना पैठ नहीं सकती। शेष भगवान्‌के पवित्र हृदयमें, लक्ष्मणके पवित्र हृदयमें तो आ सकती है, रह सकती है, परंतु वह इतनेपर भी अनुभव रखते भी सहस्रमुख होते हुए कह नहीं सकते, तब कवि जिसकी कल्पनासे भी वह अनुभव दूर है, वह सोच-समझ ही नहीं सकता तो कहेगा क्या?

प० प० प्र०—***अहमम मलिन*** =मैं और मोर अर्थात् मायासे **मलिन**=मायावश।*'मायाबस्य जीव अभिमानी'* लोग।

बै०—(१) *'कहि सकइ न सेषु'* इसे उपमामात्र ही न जानिये। आगे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। देखिये लक्ष्मणजी क्या कहते हैं—*'कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी।'''* इत्यादि। यथार्थकी कौन कहे। उन्होंने तो

* अर्थान्तर—'कवि तो अहंममसे मलिन मनुष्योंका राजा है, उसके लिये तो ब्रह्मसुख समान अगम है—(शीला)।

उनके प्रेमके प्रतिकूल वचन कहे। अतः *'कहि सकइ न सेषु'* यथार्थ ही है। (२) *'अहमम मलिन जनेषु'* इति।—'अहं मम ग्रस्त हैं, मैं और मेरा यह अहंकार है। मैं ऐसा राजा, मैं ऐसा धनी, मैं ऐसा कुलीन, मैं ऐसा विद्वान् इत्यादि हूँ कि किसी बातमें मेरी समताका कोई नहीं। यह मेरा है, वह मेरा है, ऐसा ममत्व सब पदार्थोंमें है। इससे जिन लोगोंका मन मलिन (मैला, अपवित्र) हो गया है उनको ब्रह्मसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वहाँतक उनकी पहुँच नहीं हो सकती।'

टिप्पणी १ पु० रा० कु०—अहंकार ममकारसे ग्रसित मलिन लोगोंको ब्रह्मसुख अगम है, वैसे ही कविको कविपदकी आड़ है, छन्द, प्रबन्ध, भावार्थ, शब्द, पदार्थ, उपमेय-उपमान आदिमें उसका मन लीन रहता है, वह भरतका प्रेम कैसे जाने और जब जानता नहीं तो कहे कैसे? आगे श्रीभरतजीके प्रेमकी अगमता इस प्रकार कही है—*'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधिहरिहर को।'* (२४१। ५) यहाँ भरत-ब्रह्म भरतप्रेम-ब्रह्मसुख और कवि मलिन जन परस्पर उपमेय-उपमान हैं। *'अह'*=अहमिति, एक मैं ही हूँ *'द्वितीयो नास्ति'* दूसरा नहीं है ऐसे अहंकारसे युक्त।

टिप्पणी—२ आगे चलकर भरतजीके प्रेममें लक्ष्मणजीको भ्रम कहेंगे, इसीसे उपक्रममें यहाँ शेषका भ्रम कहा। [खर्रा—यहाँ कवि शेष हैं, यथा—'**कवयः शेषादयः**' और शेष लक्ष्मण हैं।']

बाबा हरिदासजी—भाव कि 'कवि तो सब कुछ कहता है पर ब्रह्मसुखका वर्णन उसे भी अगम है। और मैं तो मलिन जनोंका राजा हूँ, कैसे कह सकता हूँ।'

मयङ्क—*'काव्यरसिक रंचक न लह रंचक जाने शेष। सोऊ मनहीं माँझ रह वाणी चढ़े न लेष'॥* अर्थात् कविताके रसिक तो कुछ भी नहीं जानते, शेषजी कुछ जानते हैं सो वह भी उनके मनका ही विषय है, न तो वाणीसे प्रकट हो सकता है, न लेखबद्ध हो सकता है। तब मैं कैसे कह सकूँ।

वि० त्रि०—सब राजसमाज प्रेममें डूबाडूब है, किसीको अपनी सुधि नहीं है, श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि इस भाँति मैंने राजसमाजके सुखका तो वर्णन कर दिया, पर उस समयके भरतजीके प्रेमका तो शेषजी भी वर्णन नहीं कर सकते, भले ही मन-ही-मन वे अनुभव करते हों, परंतु वह प्रेम कवि (मुझ) को अगम है, वहाँ मनकी पहुँच ही नहीं, जैसे अहंता-ममतासे मलिन लोगोंमें ब्रह्मानन्द अगम वस्तु है। उन लोगोंमें ब्रह्मानन्दकी भावना ही सम्भव नहीं। यहाँ नहीं कह सकते **'कहि सकइ न'** पर बल देकर कविने सब कुछ कह डाला।

सकल सनेह सिथिल रघुबर कें। गये कोस दुइ दिनकर ढरकें॥ १॥
जलु थलु देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवनु रघुनाथ पिरीते॥ २॥
उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागें सीय सपन अस देखा॥ ३॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥ ४॥
सकल मलिन मन दीन दुखारीं। देखीं सासु आन अनुहारीं॥ ५॥

शब्दार्थ—**ढरकें**—ढरकना=किसी द्रवपदार्थ (पानी आदि) का नीचे गिर पड़ना, ढलना, नीचेकी ओर जाना। दिन ढरकना=सूर्यास्त होना। **दिनकर ढरकें**=सूर्य डूबे। **अवसेषा** (अवशेष)=बचा हुआ, शेष, अन्त, समाप्ति। **पिरीते**=प्यारे। *'रजनी अवसेषा'* कुछ रात रहते, रात्रिके अन्त-समय। **ताए**=ताव खाये हुए, तपे हुए; संतप्त। **ताप**=आँच, मानसिक कष्ट। **अनुहारीं**=चेहरा, आकृति, रूप, प्रकार।—*'भालतिलक सर सोहत भौंह कमान। मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥'* *'ज्यों मुख मुकुर बिलोकिए चित न रहै अनुहारि। त्यों सेवतहु निरापने मातु पिता सुत नारि'*—(विनय०)।

अर्थ—सब लोग रघुबर श्रीरामजीके प्रेमके कारण शिथिल हैं, (इसीसे) सूर्य डूबनेतक दो ही कोस चल पाये (अर्थात् दो ही कोस गये कि सूर्य डूबने लगे) वा, सूर्यास्त होनेपर भी दो कोस और चले॥ १॥ तब जल और टिकनेके स्थल (का सुपास) देखकर ठहर गये और रात बीतते ही श्रीरघुनाथजीके प्यारे (भरतजी)

वहाँसे चल दिये॥ २॥ वहाँ (उधर) श्रीरामचन्द्रजी रात रहे जागे, (एवं सीताजी भी जगीं और रात रहते ही उठनेके पूर्व) श्रीसीताजीने ऐसा स्वप्न देखा (जिसे वे प्रियतमको सुनाती हैं)॥ ३॥ मानो समाजसहित भरतजी आये हैं। प्रभुके वियोगाग्निकी तपनसे उनका शरीर संतप्त हो रहा है॥ ४॥ सब लोग मनमें उदास, दीन और दुःखी हैं। सासुओंकी और ही आकृति (वा रूपमें) देखी। अर्थात् सौभाग्यहीन विधवारूपमें देखा॥ ५॥

गौड़जी—भगवद्दर्शनकी अपार उत्कण्ठा है। इतना पैदल चलते-चलते थक गये हैं, पर शिथिल होते हुए भी दिन ढरक जानेपर भी बराबर चले गये। दो कोस और चलकर मन्दाकिनीके किनारे जल-स्थल देख, बिना खाये-पिये किसी तरह रात काट दी। सबेरे मन्दाकिनीमें नहाकर भरतजीने वहीं सबको छोड़ दिया और बड़ोंकी आज्ञा ले दोनों भाई निषादके साथ श्रीरघुनाथजीके पास चले। यमुनाजीसे दो मंजिलसे कुछ अधिक ही चलना था। अतः दूसरे दिन सूरज छिपे पर भी दो कोस चलकर मन्दाकिनीपर पहुँचकर ही दम लिया। भोजनादिकी परवा नहीं की। दर्शनकी उत्कण्ठासे थके होनेपर भी ज्यादा चले। [नोट—यही मत पंजाबीजीका है। पूर्व २२५ (१—४) में गौड़जीका टिप्पण इसके समर्थनमें देखिये।] श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी गौड़जीसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि यही अर्थ उचित है, क्योंकि इस अर्थमें अनेक शब्दोंको अध्याहृत करना नहीं पड़ता और 'गये' के 'ये' पर अनुस्वार भी नहीं है। इस अर्थमें मिलनकी उत्कण्ठा भी प्रतीत होती है। दूसरे अर्थमें *'सकल सनेह''''कें'* के साथ है, क्रिया-पद और *'गये कोस दुइ'* के अनन्तर 'तब' को अध्याहृत लेना पड़ेगा। भाव-लघुता दोष भी होगा। इसी तरह *'निसि बीते'* को दीपदेहली मानकर अर्थ करना चाहिये। *'जलु थलु देखि बसे निसि'* अँधेरा हो जानेपर जल-थल देखकर बसे और *'निसि बीते कीन्ह गवनु।'* इसीसे कन्द-मूल-फलादिके पानेका उल्लेख भी नहीं है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'गये कोस दुइ''''''।'* अर्थात् चले दिनभर, पर दो ही कोस चल पाये। कारण पूर्वार्द्धमें दिया। पूर्व जो *'जाहिं सनेह सुरा सब छाके। सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं॥ बिहवल बचन पेम बस बोलहिं॥'* (२२५। ३-४) यह कह आये हैं। वही यहाँ *'सनेह सिथिल'* से कहा है।

टिप्पणी—२ *'जलु थलु देखि'* से यह भी जनाया कि भोजन भी न किया। (रा० प्र० का मत है कि तीर्थमें पहुँचकर पूर्व दिन उपवास चाहिये। अतः भोजन न किया।)

टिप्पणी—३ *'रघुनाथ पिरीते'* का भाव कि जो रघुनाथजीके प्यारे हैं, यथा—*'हा रघुनंदन प्रान पिरीते'* में *'प्रान पिरीते'*=प्राणके प्यारे। पुनः, जिनको रघुनाथ प्रिय हैं एवं रघुनाथजीके प्रीत्यर्थ गमन किया।

नोट—१ *'उहाँ रामु रजनी अवसेषा।'''* 'इति। (क) कविके *'इहाँ' 'उहाँ'* का प्रयोग बड़ा साभिप्राय है। इन शब्दोंद्वारा वे जनाते हैं कि हम किसके साथ हैं। *'उहाँ'* पदसे जनाया कि हम भागवत-शिरोमणिके साथ थे और साथ ही ठहरे हैं और अब यहींसे वहाँ चित्रकूट पर्णकुटीके समाचार कहते हैं। सुन्दर और लङ्कामें इन शब्दोंका प्रयोग बहुत है। (ख)—कविने श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीका पर्णकुटीमें निवास कहकर वहाँकी कथाको *'एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी॥'* (१४२। ३) पर छोड़ा था और फिर *'सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा'* से यहाँतक सुमन्त्रका लौटना, राजाकी मृत्यु, भरतागमन और चित्रकूट-प्रस्थान एवं यहाँतक पहुँचना कहकर अब फिर जहाँ श्रीरामजीको पर्णकुटीमें छोड़ा था वहीं चले, वहाँकी कुछ कथा उठायी जो बहुत सूक्ष्म है। केवल श्रीजानकीजीका स्वप्न और लक्ष्मणजीके कुछ विचारों तथा देवताओं एवं श्रीरामद्वारा श्रीभरतजीकी प्रशंसा लिखकर जो केवल सात दोहेमें है, फिर इसी (भरत) प्रसङ्गको ही कहना है; अतएव उस थोड़ेसे प्रसंगको बीचमें लिखनेके कारण उसको *'उहाँ'* से आरम्भ किया।—*'उहाँ राम''''।'* (ग) *'रजनी अवसेषा'*—यह सदा उठनेका समय है। चार-पाँच दंड रात रहे, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठा करते हैं वैसे ही यहाँ। यथा—*'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥'* (१। ३५८। ५)

नोट—२ (क) *'सीय सपन अस देखा।'* जगज्जननी हैं, ये न स्वप्न देखें तो और कौन देखे? माताकी सुरति पुत्रमें लगी ही रहती है। श्रीजानकीजी चिद्रूपा ब्रह्मस्वरूपा हैं, उनको स्वप्न कहाँ? 'वे सब कुछ निरावरण देखती जानती हैं। माधुर्यमें स्वप्न देखना कहा है। (ख) *'नाथ बियोग'* अर्थात् ममनाथ, भरतनाथ

एवं हे नाथ! आपके वियोगमें *'सकल'* अर्थात् मनुष्य एवं पशु। *दीन*=असमर्थ। *'आन अनुहारीं'*—जैसी छोड़ आयी थीं वैसी नहीं वरन् वैधव्यको प्राप्त, भूषणहीन, सावित्री-शृङ्गाररहित। ☞ कवि नृपमृत्यु आदिकी बात अभी खोलना नहीं चाहते, क्योंकि अभी वह गुप्त है, माधुर्यमें अभी श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीको मालूम नहीं है। पिताका मरण प्रथम-प्रथम वसिष्ठजीसे मालूम होगा, तब विलापादि भी होगा। इसीसे स्वप्नमें भी मृत्यु और वैधव्यकी बात नहीं कही, *'आन अनुहारीं'* कहा।

नोट—३ यह स्वप्न वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है।* जामदारजी लिखते हैं कि 'यह कवि-कल्पना ही जान पड़ती है। लक्ष्मणजीके कोपकी वह प्रस्तावना-सी होनेके कारण उसकी उपयुक्तता स्पष्ट ही दिखाती है। कविके ऐसे स्वप्नोंको कौन महत्त्व न देवेगा।' इसपर स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि जो कथाएँ वाल्मी० या अ० रा० में नहीं हैं उनको कवि-कल्पना मानना भ्रम है। ऐसा कहनेका अधिकार उसी व्यक्तिका हो सकता है जिसने गोस्वामीजीके समयमें उपलब्ध सभी संस्कृत, इतिहास, पुराण स्मृति, संहिता और नब्बेसे अधिक संस्कृत रामायणों तथा अन्य सब साहित्यका परिशीलन करके मानससे मिलान किया हो। गोस्वामीजीकी हस्तलिखित मानसकी एक प्रति भी जब आज उपलब्ध नहीं है तब अन्य उपर्युक्त ग्रन्थोंकी तो चर्चा ही क्या है!

नोट—४ आजतक भरतजीके नौ मुकाम हुए।

सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भये सोच बस सोच बिमोचन॥ ६॥
लषन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥ ७॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुचाह**=अमंगल, अशुभ बात, यथा—*'जातुधानतिय जानि बियोगिनि दुखई सीय सुनाइ कुचाहैं।'* (गी० ७। १३) यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। **चाह**=खबर, समाचार, यथा—*'राव रंक जहँ लग सब जाती। सबकी चाह लेइ दिन राती॥'*—(जायसी), *'पुर घरघर आनंद महा सुनि चाह सुहाई।'*

अर्थ—श्रीसीताजीका यह स्वप्न सुनकर नेत्रोंमें जल भर आया और संसारको शोचसे छुड़ानेवाले प्रभु भी शोचके वश हो गये॥ ६॥ (और लक्ष्मणजीसे बोले—) लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं होगा। कोई बहुत ही अशुभ बात सुनायेगा॥ ७॥ ऐसा कहकर भाईसहित (उन्होंने) स्नान किया और त्रिपुरके शत्रु महादेवजीका पूजन करके साधुओंका सम्मान किया॥ ८॥

नोट—१ *'भये सोच बस'* यह माधुर्य है, इसमें लोग भूल न जायँ; अत: *'सोच बिमोचन'* पद तुरंत ही दिया। इन्हें सोच कहाँ! यह तो नरनाट्य है। माधुर्यमें लीलाहेतु चिन्ता होना कहा। ऐसे ही मारीचवधके पश्चात् सीताजीको अकेली छोड़कर लक्ष्मणजीके आनेपर *'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।'* (३। ३०। १) कहा है। *'बाहिज'* में चिन्तारूपी दोषका परिहार है।

नोट—२ (क) *'कठिन कुचाह सुनाइहि कोई'* इति। काशीमें *'चाह'* मृत्यु या गमीको कहते हैं और यहाँ भी मृत्युकी खबर मिलेगी; इसीसे गमीसूचक पद दिया। (ख) *'बंधु समेत नहाने'* से नित्यप्रति स्नानकी विधि दिखायी। सदा साथ नहाते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'पूजि पुरारि साधु सनमाने'* इति (क) दु:स्वप्नके उत्पातकी शान्तिके लिये शिव-अभिषेक और साधुसम्मान किया। जैसे भरतजीका भयानक स्वप्न देखनेपर *'बिप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥ मागहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥'* (१५७। ७-८) ऐसा करना कहा था। (ख) *'पूजि पुरारि'*—त्रिपुरके घातक हैं, इनके आगे कोई भी विघ्न भला कब ठहरेगा। सब विघ्नोंका नाश करनेका सामर्थ्य दिखानेके लिये 'त्रिपुरारि' नाम दिया।

---

* वसिष्ठसंहितामें इससे मिलते-जुलते ये श्लोक पाये जाते हैं—'ददर्श जानकी स्वप्नं निशान्ते भरत: प्रिय:। आगतो रामविरहतापतप्ततनुं महत्॥ समाजसहित: श्वश्रूगणमत्यन्तदु:खितम्॥'—(र० ब०)। पर हमको संदेह है कि ये श्लोक व० सं० में हैं या नहीं। र० व० वाली टीकामें कोई ८० प्रतिशत श्लोक गढ़े हुए हैं।

छं०—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भये।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गये॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित* रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥

दो०—सुनत सुमंगल बैन मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन तुलसी भरे सनेह जल॥ २२६॥

शब्दार्थ—**सचकित** - आश्चर्यान्वित, विस्मित, हक्का-बक्का, दंग, चकपकाया, हैरान। **भर** =पूर्ण।

अर्थ—देवताओंका सम्मान और मुनियोंकी वन्दना करके बैठे और उत्तर दिशाकी ओर देखने लगे। आकाशमें धूल है, पक्षी-पशुसमूह व्याकुल होकर भागे और घबराये हुए प्रभुके आश्रममें गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह देखकर प्रभु उठ खड़े हुए (और विचार करने लगे) कि क्या कारण है? आश्चर्यान्वितचित्त हो गये†। उसी समय कोल-भीलोंने आकर सब समाचार कह सुनाया। तुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर मङ्गल वचन सुनते ही उनके मनमें बड़ा ही आनन्द हुआ, शरीरमें पुलकावली छा गयी और शरद्-ऋतुके कमलके समान नेत्र प्रेमाश्रुसे भर गये॥ २२६॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'उतर दिसि देखत भये'* इति। *'चले हृदय अवधहि सिरु नाई।'* (८३। २) जबसे अवधको प्रणाम किया तबसे आज उत्तर दिशाकी ओर ताका, नहीं तो अबतक कभी उधर दृष्टि भी न की थी। (उसी दिशाकी ओर देखा, क्योंकि श्रीसीताजीने स्वप्न देखा था कि *'सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥',* अतः बैठे तो स्वाभाविक ही उधर दृष्टि गयी कि सत्य ही भरतजी आ तो नहीं रहे हैं। दृष्टि डालते ही धूलि आकाशमें दिखायी दी।)

नोट—१ (क) *'नभ धूरि खगमृग भूरि भागे बिकल'* इति। वाल्मीकीयमें श्रीरामजी श्रीजानकीजीको चित्रकूट पर्वत तथा मन्दाकिनीकी रमणीयता दिखाकर उनको प्रसन्न करते हुए उनके साथ बैठे हुए थे। उसी समय आकाशमें धूल और उद्विग्न यूथपति हाथी, मृग, भैंसे आदि भागते हुए दिखायी पड़े—'**सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ।**' (२। ९६। ३) '**गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने। वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः॥**' (८) (ख) *'कारनु काह'*—क्या कोई राजा या राजपुत्र इस वनमें आखेट करनेके लिये आया है? अथवा, अन्य कोई जंगली हिंस्र पशु भ्रमण कर रहा है? इस पर्वतपर तो पक्षियोंका भी आना कठिन है।—'**राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने। अन्यद्वा श्वापदं किंचित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि॥ ९॥ सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण।**' ☞यह जो वाल्मीकीयमें उन्होंने लक्ष्मणजीसे पता लगानेको कहा है वही यहाँके *'कारनु काह चित सचकित रहे'* से सूचित किया है।

नोट—२ (क) भरतजीकी सेना इतनी भारी थी कि पशु-पक्षी, हाथी, भालू सभी उससे भयभीत होकर वनों-पर्वतों और नदियोंमें भागकर जा छिपे। यथा—'**सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान्।**' (वाल्मी० २। ९२। ४०) '**तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः। अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः॥** (९३। १)....' (ख) *'प्रभु आश्रम गये'।* [*'प्रभु'* शब्दसे जनाया कि पशु-पक्षी भी जानते हैं कि ये सर्वसमर्थ हैं, शरण जानेसे हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। यथा—*'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥'* (२६४। ३) (प० प० प्र०)] यहाँ दिखाया कि दासोंकी ही रक्षा नहीं करते, पशु-पक्षियोंकी भी करते हैं; इसीसे वे यहाँ आये। *'हित अनहित*

---

* 'सकचित'—(ला० सीताराम)

† (अर्थ)—'इस कारणको देखकर रामचन्द्रजी उठे और विचारने लगे कि सब जीव-जन्तु क्यों चकपकाये हैं।' (पं०, प० प० प्र०)

पसु पच्छिउ जाना' यहाँ चरितार्थ हुआ। (ग) *'अवलोकि'* अर्थात् खग-मृगादि भयभीत होकर आश्रममें दौड़े चले आते हैं यह देखकर। इनके डरकर भागनेका कारण क्या है यह विचार करने लगे। चित चकित हो रहा है। (घ) *'सब समाचार'*—भरतजी आते हैं, चतुरंगिणी सेना साथ है। यहाँ कोलादिकी प्रभुके कार्यमें सावधानता दिखायी। पूर्व जो कोल-किरातोंने कहा था कि *'हम सब भाँति करब सेवकाई', 'हम सेवक परिवार समेता'* (१३६। ५—८) वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

नोट—३ *'सुनत सुमंगल बैन'''*—भरतजीका आगमन मङ्गल समाचार है, यथा—*'पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥''रामहि बंधु सोचु दिन राती।'* (२। ७। ४—८) जो हमें पूर्व मङ्गल शकुन हुए थे, हम भरतागमनसूचक समझ रहे थे वे ठीक हुए। वे ही हमारे प्यारे भरत आते हैं। यह सोचकर प्रेम उमड़ आया। यहाँ प्रभुका भक्तोंपर प्रेम दिखाया। *'तनु पुलक भर'*=शरीर पुलकसे पूर्ण है, शरीरभरमें पुलक है। (पु० रा० कु०)

नोट—४ इस काण्डमें हर २५ दोहेपर एक छन्द और एक सोरठा रहता है तथा दोहा १२६ को छोड़कर सभी छन्दोंमें कविका नाम है। सोरठामें नाम प्रायः दो स्थलोंको छोड़कर कहीं नहीं है—एक तो यहाँ दूसरे सोपानकी समाप्तिपर। दोहा १२६ में नामके न होनेका कारण बताया जा चुका है कि वाल्मीकि स्वयं तुलसीदास हैं। इसका प्रमाण बृहद्ब्रह्मरामायणके सिद्धान्तखण्डमें **'वाल्मीकिस्तुलसीदासो भविष्यति कलौ युगे'** तथा महाकालसंहितामें **'वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति'** यह भी है। (विशेष पूर्व १२६ छन्दमें देखिये।) पर यहाँ और अन्तिम सोरठेमें नियमके प्रतिकूल नाम क्यों दिये गये? इसमें क्या रहस्य निहित है? वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि 'प्रसङ्गके पूर्वमें यह कह चुके हैं कि प्रातःकाल जागते ही श्रीमहारानीजीका स्वप्न सुनकर श्रीरामजीने कहा कि *'लषन सपन यह नीक न होई'* तत्पश्चात् *'अस कहि बंधु समेत नहाने'* और *'सनमानि सुर मुनि बृंद बैठे उतर दिसि देखत भये।'* उस समय श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तीनों व्यक्ति साथ ही बैठे थे, जब कि कोल-किरातोंने श्रीभरतलालजीके आगमनकी सूचना दी, जिसे सुनकर तीनों व्यक्ति प्रमुदित हुए और तीनों ही व्यक्तियोंके नयनाम्बुजमें प्रेमजल भर आया, इसीके बतानेके लिये उस सोरठेमें *'तुलसी'* शब्द रखकर बताया कि 'तु' से 'तुरीयो रघुनन्दनः' श्रीरामजी, 'ल' से लक्ष्मणजी और 'सी' से सीताजी तीनोंकी प्रेमाकुल दशा हो गयी। इसकी पुष्टि बहुरि *'सोच बस भे सियरवनू'* से हो रही है कि पहले तीनों व्यक्तियोंकी एक दशा थी।

और अन्तिम सोरठेमें जो तुलसी शब्द है, वह तो काण्डान्तका परिचायक है।

बहुरि सोचबस भे सियरवनू। कारन कवन भरत आगमनू*॥ १॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी॥ २॥
सो सुनि रामहिं भा अति सोचू। इत पितु बच इत बंधु संकोचू॥ ३॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥ ४॥
समाधान तब भा यह जानें। भरत कहे महुँ साधु सयानें॥ ५॥

शब्दार्थ—**रवनू** (रमण)=पति, स्वामी। **बच**=वचन। **इत**=इधर, एक ओर **थिति**=ठहराव, स्थायित्व, विश्राम करनेका स्थान। **समाधान**=मनके सन्देहकी निवृत्ति, निराकरण। सन्तोष। **कहे महुँ**=आज्ञाकारी। कहनेमें हैं। **कहे**=आज्ञा। **साधु**=धर्मात्मा, सदाचारी, सुशील, परोपकारी; सद्गुण-सम्पन्न, सज्जन।

अर्थ—श्रीसीतापति रामचन्द्रजी फिर शोचके वश हुए कि भरतजीके आनेका क्या कारण है?॥ १॥ फिर एकने आकर ऐसा कहा कि साथमें चतुरङ्गिणी सेना बहुत बड़ी है॥ २॥ यह सुनकर श्रीरामजीको अत्यन्त शोच हुआ, इधर तो पिताकी आज्ञा और इधर भरतका संकोच (शील, लिहाज, मुलाहजा)॥ ३॥

* 'आगवनू' पाठान्तर है।

मनमें भरतजीका स्वभाव समझकर प्रभु चित्तके लिये ठहरनेका स्थान नहीं पाते॥ ४॥ तब यह जानकर संतोष हुआ कि भरत हमारे आज्ञाकारी, साधु और चतुर हैं॥ ५॥

नोट—१ *'सियरवनू'* का भाव—सीताके रमण हैं। **'रमु क्रीडायाम्'**। सोच हुआ यह क्रीड़ा है। (पु० रा० कु०) *'सिय'* माधुर्य नाम है, माधुर्यलीलामें सोच दिखाया। नहीं तो उन्हें सोच कैसा? मयंककार कहते हैं कि 'सोच हुआ कि हमने सीतासहित वनवास निश्चय किया, कहीं उसमें बाधा तो न होगी। अतः *'सियरवनू'* कहा।'

नोट—२ *'कारन कवन भरत आगमनू'* इति। ☞ वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने कहा है कि मैं समझता हूँ कि मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय भ्रातृवत्सल भरत अयोध्यामें आये होंगे और कुलधर्मका स्मरण करके तथा यह जानकर कि हम लोग जटा-वल्कल धारण करके वनमें चले गये हैं, स्नेह-परवश तथा शोकसे व्याकुल होकर वे मुझे देखनेके लिये आये हैं। (२। ९७। ९—११) वे अप्रिय वचनोंद्वारा कैकेयीको अप्रसन्न और पिताको प्रसन्न करके मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं—**'अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्। प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः॥'** (१२) अथवा हम लोग सुखके अभ्यासी हैं, यह जानकर तथा वनके कष्टोंको सोचकर ये हम लोगोंको घर लौटा ले जायँगे—**'अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ। वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति॥'** (२२)—यह सब *'कारन कवन भरत आगमनू।'* तथा *'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू'* के भावको स्पष्ट कर देते हैं। इन दोनोंमेंसे ही कोई एक कारण है यह 'अथवा' से जना दिया। इसीसे *'कारन कवन'* कहा। आनेका और कोई प्रयोजन नहीं है—**'नान्यथागतः।'** (श्लो० ११)

अनेक कारण लोगोंने अनुमान करके लिखे हैं। यथा—(क) राज्य पानेमें तो कोई विघ्न नहीं हुआ। (ख) बीच पाकर किसी राजाने तो नहीं दबा लिया। वसिष्ठजीने दूतोंको जो यह आज्ञा दी थी कि *'यह सुधि कतहुँ कहेउ जनि कोई'* वह इस सन्देहको जगह देती है। (खर्रा) (ग) हमारा वनवास जानकर उन्होंने भी तो न वनवास लिया हो, या हमारे लौटानेको तो नहीं आते। (रा० प्र०) (घ) हमारी माता या प्रजा न बिगड़ गयी हो, दोनों भाइयोंमें तो भेद नहीं हो गया इत्यादि। (वै०, पां०)

नोट—३ *'सो सुनि रामहिं भा अति सोचू।…'* इति। (क) इससे जान पड़ता है कि पूर्व यह खबर न मिली थी कि सब सेना आ रही है। इस किरातने आकर यह खबर दी तब चिन्ता बढ़ गयी। पहले 'सोच' मात्र था, अब *'अति सोच'* हो गया। अब क्या बड़ी चिन्ता हुई, यह कवि स्वयं कहते हैं कि *'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू।'* अर्थात् पहलेके सोच जाते रहे। क्योंकि जब सुना कि चतुरङ्गिणी सेना साथ है तब यह निश्चय हुआ कि हमको मनाने ही आते हैं दूसरी बात नहीं है, यदि राज्यमें उपाधि हुई होती तो चतुरङ्गिणी सेना वहीं युद्ध और रक्षामें रहती। सेनासहित आनेसे राज्यमें क्षेमकुशल निश्चय है। (ख)—*'अति सोच'* का भाव कि वे जान गये कि सब सेना सौंपने और वनमें ही राज्य देकर लौटानेके लिये आये हैं। सो इधर तो पिताका वचन १४ वर्ष वनवासकी आज्ञा और इधर भाईका संकोच कि इनसे कैसे कहेंगे कि न फिरेंगे। अथवा, सब सेना है तो वसिष्ठजी आदि भी आये होंगे, ये अकेले होते तो समझा-बुझा देते, क्योंकि ये छोटे हैं पर अब जो कहेंगे, उसे न माननेमें बहुतोंका अपमान है—(रा० प्र०) पर इस भावसे बन्धुप्रेम, 'बंधु-संकोच' में कसर पड़ जाती है जो कविके वचनोंसे अभिप्रेत नहीं जान पड़ता। यह धर्म-संकट उपस्थित हो जानेसे *'अति सोच'* है *'रामहिं भा'*—यहाँ राम शब्द दिया। रामको सोच हुआ यह आश्चर्य है। बड़े तर्कको बात है। पर ये राम हैं, रमण करते हैं, यह क्रीड़ा है। (पु० रा० कु०)

वि० त्रि०—*'बहुरि सोच बस…संकोच।'* इति। प्रभु सोचते हैं, बिना कारणके कार्य होता नहीं। अतः भरतके आनेका कारण होना चाहिये। यदि यह मानें कि हमलोगोंका समाचार लेनेके लिये चक्रवर्तीजीने भेजा है, इसलिये आ रहे हैं, तो यह भी सम्भव नहीं, महाराज इसके लिये किसी मन्त्रीको भेजते या शत्रुघ्नको भेजते, भरतके ऊपर नया बोझ राज्यका पड़ा है, उनको महाराज ऐसे अवसरपर नहीं भेज सकते।

कोल-किरातोंने कह रखा है कि *'हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥'*

उन्होंने भरतका आगमन सुना, तो सुनते ही सरकारको खबर दी। जब देखा कि साथमें सेना है, तो सशङ्क हो उठे, तुरंत खबर दी कि *'सेन संग चतुरंग न थोरी।'* श्रीरामजीने समझा कि पिताके गौरवसे स्वीकार किये हुए राज्यको मुझे अर्पण करनेके लिये आ रहे हैं। वनमें ही अभिषेकके समय सलामीके लिये सेना साथ है। कारण मालूम हो गया। सामञ्जस्य बैठ गया। अब अत्यन्त सोच हुआ। क्योंकि दूसरा असामञ्जस्य उपस्थित हुआ, न तो पिताका वचन छोड़ते बनता है और न भरतका संकोच छोड़ना सम्भव है।

नोट—४ ☞यहाँ *'इत इत'* पद दिया यद्यपि मुहावरा है *'इत उत'* बोलनेका। *'इत इत'* दोनों जगह देकर जनाया कि जैसा हमें पिताके वचनके पालन करनेमें प्रेम और उसके मेटनेमें संकोच है, उससे कम भरतका संकोच नहीं, उनकी बात भी रखनेमें हमारा प्रेम कम नहीं है वरन् अधिक ही है। और दोनों बातोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ सकते।

यहाँ *'इत इत'* के साथ ही एक चमत्कार और भी है। यहाँ 'वचन' पूरा शब्द न देकर *'बच'* ही छोटा पद दिया है और भरतके साथ *'संकोचू'* बड़ा और पूरा शब्द दिया है। इससे भी जनाया कि पिताके वचनसे भरतका संकोच भारी है, यथा—*'तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥'* (२६४। ७) यदि दोनोंमें बराबरी होती तो एकमें *'इत'* दूसरेमें *'उत'* देते।

पुनः, दूसरा भाव कि कवि जिधर प्रेम देखते हैं उधर ही रहते हैं—जब रामजीका प्रेम भक्तपर देखा तब रामजीके पास और जब भक्तका प्रेम रामजीमें देखा तब भक्तके पास, श्रीरामजीको भक्त पिताके वचनका सोच कि इनके वचन न मानें तो धर्म गया और मानें तो भरतका संकोच न रहा।

नोट ५—*'भरत सुभाउ समुझि मन माहीं।…'* इति। (क) भरत स्वभाव यथा—*'हारे हरष होत हित भरतहि जिते सकुच सिर नयन नये। तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रये॥'* (गी० २। ४३) (अर्थात् श्रीरामजीसे हार जानेपर प्रसन्न होते हैं और जीतनेसे संकोच होता है—*'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन॥'* (२६०) श्रीभरतजीका स्वभाव तो वेदोंको भी अगम्य है, यथा—*'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू।'* (३०४। १) लक्ष्मणजी भी न जान पाये। एकमात्र श्रीरघुनाथजी ही जानते हैं, यथा—*'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीकें। करौं काह असमंजस जीकें॥'* (२६४। ५) *'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२३२। ८), *'कबिकुल अगम भरत गुनगाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥'* (२३३। ३) लक्ष्मणजीको समझाते हुए भरतजीका स्वभाव कुछ दोहा २३१-२३२ में कहा है, यह भरतका शील-संकोची स्वभाव समझकर प्रभुका चित्त हितकी वा हितके विषयमें स्थिति नहीं पाता कि इस प्रकार हमारा हित होगा, दोनोंका संकोच निबह जायगा। (पु० रा० कु०) अथवा 'हित=प्रेम। चित्त प्रेमकी स्थितिको पाता ही नहीं कि किसका प्रेम निबाहें। पिताकी आज्ञा मानें या भरतका कहना।' (दीनजी) वा, हितपर थिति नहीं पाता अर्थात् मनचाही बातपर चिन्तवन थिर नहीं होता। (वै०) वा, प्रभुका चित्त अपने हितके लिये स्थिर नहीं होता है। (नं० प०) मेरी समझमें 'हित' का अर्थ यहाँ 'लिये' है। इससे अर्थमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, अन्वय तथा अर्थ सीधा और सरल है। गी० प्रे० ने भी प्राय: मा० पी० का ही भावार्थ रखा है।—'प्रभु अपने चित्तको ठहरानेके लिये स्थान नहीं पाते'—(गी० प्रे०)।

नोट—६ *'भरत कहे महँ साधु सयाने।'* इति। जो हम कहेंगे वही करेंगे, साधु हैं, पराया कार्य साधनेवाले हैं और पण्डित हैं; जिसमें हमारा धर्म जाय वह न करेंगे, *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'* *'निजहित चहइ तासु मति पोची'* यह सब वे जानते हैं, साधु हैं, यथा—*'तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू॥'* (२०५। ७) और *'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१। १४) तथा *'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (५। ६। ४) यही बात सुरगुरुने कही है—*'रामभगत परहित निरत परदुख दुखी दयाल। भगत सिरोमनि भरत ते जनि डरपहु सुरपाल॥'* (२१९) *'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयसु अनुसारी॥'* अत: श्रीभरतजी यह कभी न करेंगे कि जो प्रतिज्ञा हम कर चुके हैं वह व्यर्थ हो

जाय। हमारी सत्यसन्धतामें बट्टा लगे; हमें संकोच हो, इत्यादि।—यह समझनेपर चित्त स्थिर हो गया, मनको संतोष हो गया।

नोट—७ पंजाबीजीने यह शङ्का करके कि—'स्वामीके हृदयकी लख लेना ठीक ही है पर लक्ष्मणजी सर्वज्ञ हैं, उन्होंने समाधान न लखकर क्षोभ कैसे लखा और भरतपर कोप क्यों किया? इसका समाधान यों किया है कि मंगल समाचार भरतागमन सुनकर प्रसन्न हुए; फिर यह समझकर चिन्तित हुए कि उनको तो राज्य करना था न कि यहाँ आना। यहाँ 'सियरमण' का भाव यह है कि इसीसे बुद्धिमान् लोग विदेशमें स्त्रियोंको साथ नहीं ले जाते कि न जाने कैसा अवसर आ पड़े, उनके सामने युद्धादिमें बड़ी चिन्ता हो जाती है। इतनेहीमें सेनाकी खबर मिली तब अति व्यग्र हुए—*'इत पितु बच'* वनवासकी आज्ञा है। यदि कोई कहे कि युद्ध करके फिर वनवास करना (अवध न जाना) तो उसपर कहते हैं कि *'उत बंधु संकोचू'* अर्थात् कुलघात होगा। भरतका पूर्वस्वभाव जानकर प्रेम होता है पर फौज लानेसे शंका होती है। इस द्विचित्तीमें चित्तका आशय स्थित नहीं होता तब यह समाधान किया कि भरत कहनेको साधु हैं…।'

पर यह भाव प्रसंगानुकूल नहीं है। रा० प्र० कार इसपर लिखते हैं कि यह अर्थ ठीक नहीं है। इससे श्रीरामजीमें एक तो अल्पज्ञताका आरोपण होता है। दूसरे, यदि कहो कि नरलीलामें इसका विचार न करना चाहिये तो भी ठीक नहीं; क्योंकि आगे रघुनाथजी जो कहेंगे कि *'भरतहिं होइ न राजमद'* इत्यादि इससे विरोध होगा। व्यवहारमें भी प्रामाणिक लोग क्षण-क्षणमें कुछ-का-कुछ नहीं कहते, अभी कुछ और थोड़ी देरमें फिर कुछ और, ऐसा नहीं कहते; तब मर्यादापुरुषोत्तम कैसे कहेंगे?

लषनु लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू। कहत समय सम नीति बिचारू॥ ६॥
बिनु पूछें कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समयँ न ढीठु ढिठाई॥ ७॥
तुम्ह सर्बग्यसिरोमनि स्वामी। आपुनि समुझि कहउँ अनुगामी॥ ८॥
दो०—नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥ २२७॥

शब्दार्थ—खभारू (प्रा० खोभ। सं० क्षोभ)=खलबली, क्षोभ, चिन्ता, अन्देशा, घबराहट। बिचार=निश्चय की हुई बात। सुहृद (सुहृत्)=अच्छे हृदयवाला, सहृदय, स्नेहशील। सरल=सीधे-सादे, भोले-भाले, निष्कपट।

अर्थ—लक्ष्मणजीने लख लिया कि प्रभुका हृदय क्षुब्ध है तब वे समयके अनुसार नीतिके विचार कहने लगे॥ ६॥ हे गोस्वामी! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ। सेवक समयपर ढीठ हो तो वह ढिठाई नहीं है—(अर्थात् यह समय ही ऐसा आ पड़ा है कि आपके पूछनेकी राह न देखना चाहिये, आपसे कह देना ही चाहिये। सेवकका यह धर्म है। इस धृष्टताको आप क्षमा करें)॥ ७॥ हे स्वामी! आप सर्वज्ञोंमें शिरोमणि हैं* अर्थात् आप (तो) सब जानते ही हैं। मैं आपका सेवक अपनी समझ (के अनुसार) कहता हूँ॥ ८॥ हे नाथ! आप अत्यन्त सहृदय, अत्यन्त सरलचित्त और अत्यन्त शील और प्रेमके समुद्र हैं। सबपर आपका प्रेम और विश्वास है† आप सबको हृदयमें अपने ही समान जानते हैं॥ २२७॥

*** 'लषनु लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू……'***

रा० प०—भाव यह कि क्षोभको लखा; पर समाधान होना न लख पाये। लक्ष्मणजी भी तो सर्वज्ञ हैं फिर क्यों न लक्ष्य किया? क्योंकि भगवान् रामचन्द्रजी जिस बातका किसीको लक्ष्य न कराया चाहें वह उस बातको नहीं जान सकता—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई॥'* (१२७। ३) इससे अरण्यकाण्डमें

---

* 'आप सर्वज्ञशिरोमणिके भी स्वामी हैं'—(रा० प्र०)। नारद-सनकादि सर्वज्ञ हैं, उनके शिरोमणि विधि-हरि-हर हैं और आप इनके भी स्वामी हैं।

† 'सबपर प्रीतिकी प्रतीति जीमें है'—(रा० प्र०)। 'सबको एक समान देखते हैं…' (पु० रा० कु०)।

'माया सीता' वाला चरित न जाना, यथा—*'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।'* (३। २४। ५) (इस विषयमें पूर्व कई बार विस्तारसे लिखा जा चुका है कि कोई भी जीव चाहे वह ईश्वरकोटिहीमें क्यों न हो पूर्ण सर्वज्ञ, निरावरण सर्वदा सर्वदर्शी नहीं है। केवल परमात्मा परब्रह्म राम ही ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। ब्रह्मको पदवी पानेपर भी जीवकी सर्वज्ञता परिमित ही है। *'तब संकर देखेउ धरि ध्याना।'* (१।५६।४); *'लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भए भ्रम हृदय बिसेषा॥ सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥'* (१। ५३। १—३) देखिये) २ (क) रामजीके हृदयकी न जानी पर भरतके हृदयकी बात तो जाननी थी, उसे न जाना। इसका समाधान महाराज जनकजीके वचनोंसे कर लें—*'भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥'* (२८९। २) (प्रभु इनकी अनन्यता दिखलाकर लोकको उपदेश दे रहे हैं।) (ख) लषनके साथ लखना शब्द भूषणरूप है। *'लषन'*=लखनेवाला। लखनेवाला ही लख सकता है यह 'परिकराङ्कु अलङ्कार' है। जब एकने आकर यह कहा कि *'सेन संग चतुरंग न थोरी'* तब *'सो सुनि रामहि भा अति सोचू।'* बस, इसी समय उन्होंने देखा कि चित्त क्षुब्ध हो गया, इसीसे उन्होंने यह समझ लिया कि प्रभुके हृदयमें यही अंदेशा है कि वे युद्धके लिये तो नहीं आ रहे हैं। लक्ष्मणजी प्रभुके प्रेममें ऐसे पगे हैं कि उनके चित्तका भी किञ्चित् क्षोभ नहीं सह सकते। यद्यपि प्रभुके जीमें खलबली बहुत थोड़ी देर रही, शीघ्र ही समाधान हो गया।

गौड़जी—प्रभुने मनमें सारी बातें विचार ली। भरतजी सहितसहाय राजतिलकको आ रहे हैं। परंतु समझा-बुझाकर लौटाये जा सकेंगे। 'सर्वज्ञशिरोमणि' तो यह सब जानते ही थे। दोहरे संकोचके कारण जो मुखाकृतिसे कुछ क्षोभ प्रकट हुआ उसीपर सर्वज्ञ लक्ष्मणजी ऐश्वर्यभावकी ओर संकेत करके अपने इस लीलाविग्रहके प्रत्यक्ष स्वभाव और चरितके अनुकूल वचन कहते हैं। यह अभिनय भी कैसा सुन्दर है। साफ कहते हैं कि आप सर्वज्ञशिरोमणि हैं। (असलियत तो जानते ही हैं।) परंतु, मैं तो अपनी अनुगामिनी छोटी *'समुझि'* (समबुद्धि) कहता हूँ। [इस अवसरपर जैसा अभिनय मेरा कर्तव्य है वैसा ही आपके अनुगमनपूर्वक करता हूँ। सबके देखनेमें आप कुछ चिन्तित हो गये हैं, उसका निर्वाह करनेके लिये, उसका वास्तविक तात्पर्य खोलनेके लिये यदि यहाँके लोगोंके मनमें भरतसे आपको आशङ्कित होनेका सन्देह हो तो उसके निवारणार्थ कहता हूँ।] लक्ष्मणजीका इस अवसरका विलक्षण क्रोधावेश मानसमें चित्रित उनके चरितके, उनकी रामभक्तिकी भावनाके सर्वथा अनुकूल है। माधुर्यभावसे लाड़िले लखनलाल, प्रभुके लिये परशुराम, जनक, दशरथ आदिकी भी अवहेलना करनेवाले भरतादिपर अत्यन्त क्रोध करें, तो क्या आश्चर्य है? चारों भाई पुरुषोत्तमके आदर्शके पूर्ण चित्रके कई पहलू हैं। लक्ष्मणजीका पुरुषोत्तमपक्ष यहाँ पूर्णतया चरितार्थ है।

खर्रा—हृदयका खँभार लक्ष्मणजी न लख पाये, अतः 'लख न' कहा। जैसे *'लषन लखेउ भा अनरथ आजू। यह सनेह बस करब अकाजू॥'* सुमित्राजीका स्नेह श्रीरामजीपर है। उसे लक्ष्मणजीने अपने ऊपर समझ लिया और डरे कि हमपर प्रेम करके हमारा काम ये बिगाड़ेंगी, इसलिये वहाँ भी *'लषन लखेउ'* कहा। दोनों जगह ये ठीक न लक्ष्य कर पाये। श्रीरामजीके हृदयमें तो 'खँभार' है कि *'इत पितु बच इत बंधु संकोचू'* और वे समझे कि सेना सुनकर सोचवश हुए कि इतनी बड़ी सेनासे युद्ध करना पड़ेगा।

पु० रा० कु०—(१) लक्ष्मणजीने ज्योंही यह जाना कि प्रभुके हृदयमें सोच है त्योंही वे अपनी सेवाके लिये सावधान हुए। (२) *'कहत समय सम नीति बिचारू।'* अर्थात् धर्मविचार नहीं कहते हैं, केवल समयानुसार नीति जैसी है वह कहते हैं। इस समय सेनासहित भरतजी आ रहे हैं; इससे शत्रुभाव जान पड़ता है—[नोट—*'समय सम'* पद लक्ष्मणजीके क्रोधाभिनिवेशका समाधान है। पाँड़ेजीका भी मत है कि इससे जनाया कि अपने अनुकूल नहीं कहा, समयके अनुकूल कहा।] (३) *'सेवकु समय न ढीठ ढिठाई'* इति।—स्वामीके बिना कुछ पूछे अपनी ओरसे कुछ कहना धृष्टता है—**'न पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति न्यायेन।** बिना पूछे न बोलना न्याय है; इसीलिये धृष्टताके निवारणार्थ ऐसा कहकर उसके लिये क्षमा माँगी।*

* १—कुण्डलिया-रामायणमें मंथराके वचन इस विषयमें देखिये—'इन ठौरनि पूछे बिना कहै स्वामि सों दास।

(४) *'नाथ सुहृद सुठि सरलचित''* इति। आप सुहृद् हैं अतः सबपर प्रीति है। सरलचित हैं अतः प्रतीति मानते हैं। शील और स्नेह वा स्वभावसे ही स्नेहके पात्र हैं, अतः आप सबको समान मानते हैं, अर्थात् समझते हैं कि संसार सब एक तरहका है, विषम नहीं है। मिलान कीजिये लंकाकाण्ड वाल्मीकीयमें विभीषण-शरणागतिपर सुग्रीवके वचनोंसे।

बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होंहि जनाई॥ १॥
भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जगु जाना॥ २॥
तेऊ आजु राजपदु* पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥ ३॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥ ४॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू॥ ५॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई॥ ६॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥ ७॥

शब्दार्थ—**प्रभुताई**=स्वामित्व, बड़प्पन, बड़ाई, महत्त्व, साहिबी, हुकूमत, शासनाधिकार। '**नीतिरत**'=नीतिमान्, सदाचारी, धर्मनीतिपर चलनेवाले। **सुजान**=विज्ञ, ज्ञानवान्, चतुर। '**एकाकी**' (सं० एकाकिन)=अकेला, तनहा। '**कलपि**'=कल्पना करके, रचकर, भावना, अनुमान या फर्ज करके, मनगढंत करके। 'कल्पना' वह शक्ति है जो अन्तःकरणमें ऐसी वस्तुओंके स्वरूप उपस्थित कर देती है, जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं। **गजाली**=गज+आली। **आली**=पंक्ति, झुंड, कतार। **कुमंत्रु**=कुमन्त्रणा, बुरी सलाह, बुरा विचार।

अर्थ—मूर्ख विषयी प्राणी प्रभुता पाकर मोहवश प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् उनका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है (वा, उस प्रभुताको) प्रकट करनेवाले होते हैं॥ १॥ भरत नीतिपरायण, साधु और समझदार हैं, प्रभु (आप) के चरणोंमें उनका प्रेम है, यह सारा संसार जानता है॥ २॥ सो वे भी आज राजाका पद (पदवी, दरजा, ओहदा) पाकर धर्ममर्यादाको मिटाकर चल रहे हैं॥ ३॥ कुटिल, खोटा भाई (भरत) कुअवसर ताककर और यह जानकर कि रामजीका वनमें वास है और वे अकेले हैं, मनमें बुरा विचार (दृढ़) करके समाज सजाकर अकंटक (शत्रुरूपी काँटारहित) राज्य करने आये हैं॥ ४-५॥ (जो कहा जाय कि रामजीको तो राज्यकी चाह नहीं फिर वे ऐसा विचार करके क्यों आयेंगे, उसपर कहते हैं कि) करोड़ों प्रकारकी कुटिलताकी कल्पना करके सेना एकत्र करके दोनों भाई आये हैं॥ ६॥ यदि इनके मनमें कपट और कुचाल न होती तो रथों, घोड़ों और हाथियोंका समूह इस समय किसे अच्छा लगता? अर्थात् शुद्ध हृदयवाला सेना आदिको साथ कदापि न लाता॥ ७॥

नोट—*'मूढ़ मोहबस होंहि जनाई'* इति। इस चरणके अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं। (१) मूढ़ और मोहवश हो जाते हैं ऐसा जान पड़ता है। (रा० प्र०) (२) वे मूढ़ मोहवश होकर अपनेको जना देते हैं कि हम ऐसे हैं। (शिला) (३) मोहवश मूढ़ हो जाते हैं अर्थात् उनको फिर अपनी हानि-लाभ नहीं सूझती, वे अपने ऐश्वर्यको प्रगट करके जनाना चाहते हैं। (वै०) (४) मोहके

सर्प अस्त्र अरि विष अनल अनिल कंट दुर्वास॥ १॥ अनिल कंट दुर्वास असन पथ अपथ जनावे। लाभ हानि दुखदानि कहत पातकनहिं आवै॥ २॥ लाभ हानि नहिं बोलई, प्रभु आयसु रुख निसि दिना। स्वामि सुहागिलि देहि सिख इन ठौरन पूछे बिना'॥ ३॥

२—'समयपर ढीठ न हुआ अकाज होने दिया तो ढिठाई है, नमकहरामी है' ऐसा अर्थ भी लोग करते हैं पर ठीक नहीं है।

* रामपदु—ला० सीताराम। यद्यपि यह राजापुरका पाठ है और रामको सम्बोधन मानकर अर्थ लगा सकते हैं, फिर भी आगेके 'जग बौराइ राजपद पाएँ', 'केहि न राजमदु दीन्ह कलंकू' इत्यादिके साहचर्यसे यहाँ 'राजपदु' ही पाठ समीचीन है।

कारण प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उनकी बुराई खुल जाती है—(दीनजी)। (५)—अज्ञानवश मूर्खतामें जाहिर हो जाते हैं। (६)—मूर्खतासे अज्ञानवश हो अभिमान करने लगते हैं। इत्यादि।

अनेकार्थका कारण *'जनाई'* वा *'होंहि जनाई'* है। अत: इन्हीं शब्दोंको और प्रसंगको विचार करना चाहिये। *'जनाई'*=जनाने, प्रकट या जाहिर करनेवाले जान पड़ता है।=जनाकर, प्रकट करके (मूढ़ होंहिं, मूर्ख बन जाते हैं।) अथवा, *जनाई*=प्रकट।

प्रसंग क्या है? लक्ष्मणजी लोकरीति कह रहे हैं। बस, इसके अनुसार 'प्रभुत्व' का जनाना वा प्रकृतिका प्रकट होना ही संगत है।

पु० रा० कु०—*'बिषई जीव पाइ प्रभुताई।'''* इति। जीव तीन प्रकारके हैं, यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२७७। ३) भाव यह है कि भरत न साधक हैं न सिद्ध, किंतु विषयी हैं, इसीसे वे *'जनाई'* हुए। (*'पाइ'* से जनाया कि बिना परिश्रमके अनायास पा जाते हैं तब मोहवश हो जाते हैं। प० प० प्र०) नीतिरत थे, नीतिपरायण थे, अच्छी नीति जानते थे, साधु थे अर्थात् सदाचारी थे, मृदु मधुर स्वभाव था, किसीका अनिष्ट नहीं ताकते थे, सुजान थे अर्थात् ज्ञान भी अच्छा था।

नोट—१ *'चले धरम मरजाद मिटाई'*—भाव कि धर्मनीति यह थी कि कुलकी रीतिपर चलते। *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* (१५। ३; कैकेयीवाक्य), *'यह कुल उचित राम कहुँ टीका।'* (१८। ७; मंथरावाक्य), *'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'* (३१; दशरथवाक्य)। चाहिये था कि राज्य ग्रहण न करते, किंतु ऐसा न करके राज्य लिया। यह धर्मविरुद्ध कार्य हुआ। यथा—**'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥'** (वाल्मी० २। १२। १९) (राजाने कैकेयीसे कहा है कि तुम्हारी बुद्धि दूषित हो गयी है, तुम्हारे कारण नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें नीतिविरुद्ध कार्य होने जा रहा है।) उसपर भी अब बड़े भाईको मारकर अकंटक राज्यकी इच्छा करके आ रहे हैं। अत: कहा *'चले धरम मरजाद मिटाई।'* बड़ा भाई पिताके तुल्य है। यथा—*'तुम पितु सरिस भलेहि मोहिं मारा।'*

२ *'कुटिल कुबंधु कुअवसरु'''* इति। (क) नीति और साधुता गयी, अतएव कुटिलता आ गयी, कुटिल हो गये। रामपदप्रेम जानेसे सुहृदता गयी, कुबन्धुता आयी। 'सुबंधु' से 'कुबंधु' हो गये। (पं०) (ख) 'कुअवसर' रामके लिये कि वे अकेले वनमें बसते हैं और अपने लिये अच्छा मौका है। *'बनबास एकाकी'* अर्थात् वनमें बसनेसे उनका कोई सहायक नहीं है।

३—(क) *'करि कुमंत्रु मन'* इति। भाव कि कैकेयीने चौदह वर्षकी अवधिके लिये कुमन्त्र पढ़ा था, यथा—*'कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥'* (२१२। ४) भरतजीने सोचा कि माताने भूल की। अत: उन्होंने माता तथा भाईके साथ सलाह करके यह कुमन्त्र निश्चित किया कि राज्यको अकंटक कर लेना चाहिये। (ख) *'आये करइ अकंटक राजू'* इति। राम काँटा हैं, १४ वर्षमें फिर लौटकर अवध आवेंगे तब न जाने फिर राज्य ले लें; क्योंकि वर तो १४ वर्षके लिये है। काँटाको जड़से उखाड़ दें फिर रहे ही न और न गड़े। इनको मार डालें, निश्चिन्त हो जायँ। यदि कहिये कि कैसे जाना कि कुटिल भावसे आ रहे हैं तो उसपर कहते हैं—*'जौं जियँ होति न ''''।'* कपट और कुचाल या कपटसम्बन्धी कुचाल। कुचाल=बुरा आचरण।

४ *'कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई''''* यथा—वनमें ही कोई सहायक उत्पन्न कर लें, तपसे बली हो जायँ, अभी पिताकी आज्ञा ली है, लौटनेपर इसकी कसर निकालेंगे। लोक-वेद दोनोंके अनुसार राज्याधिकारी हैं ही, सबल भी हैं। मन्त्री, सेना और प्रजाको अवधमें रहकर मिला लेंगे, हमें निकाल देंगे इत्यादि। (पं०, वै०) *'दोउ भाई'*—शत्रुघ्नजीको भी कहा, क्योंकि यदि वे सम्मतमें न होते तो पहले ही साथ छोड़कर यहाँ आ जाते। [शत्रुघ्नजीका नाम न लिया। क्योंकि रामविरोधी हैं—(पं०)] *'केहि सोहाति'*— विरहमें रथ, घोड़े आदिपर न चलते, पैदल आते।

५ मिलान कीजिये—*'है कछु कपट भाउ मन माहीं॥ जौं पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥ जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥ भरत न राजनीति उर आनी॥'* (१८९। ३—६) निषादराजके वाक्यसे। (वाल्मी० २। ९६) में *'आये करै अकंटक राजू'* की जोड़का श्लोक यह है—**'सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्। आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥'** (१७) अर्थात् राज्य पाकर उसे शत्रुहीन बनानेकी इच्छासे कैकेयीका पुत्र भरत हम दोनोंको मारनेके लिये आ रहा है।

भरतहि दोसु देइ को जाएँ। जग बौराइ राजपदु पाएँ॥८॥
दो०—ससि गुरतियगामी नहुषु* चढ़ेउ भूमिसुरजान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥२२८॥
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥१॥

शब्दार्थ—**बौराइ**=बावला, पागल, मदान्ध वा उन्मत्त हो जाता है।

अर्थ—परन्तु भरतको ही व्यर्थ कौन दोष दे? राजपद पाकर तो संसार ही (अर्थात् संसारमें सभी लोग) बावला हो जाता है॥८॥ चन्द्रमा गुरुपत्नीगामी हुआ, नहुष ब्राह्मणोंको सवारीमें लगाकर उसपर चढ़ा और वेन लोक तथा वेद दोनोंसे विमुख हो गया (दोनोंमेंसे किसीको न माना) उसके समान तो कोई अधम नहीं होगा॥२२८॥ सहस्रबाहु, देवराज इन्द्र और त्रिशंकु आदि किसको राजमदने कलंक नहीं दिया। अर्थात् सभी कलंकित हुए†॥१॥

नोट—यहाँ छ:का प्रमाण दिया।

१—'चन्द्रमा'—बृहस्पतिजी सब देवताओंके और इसके भी गुरु हैं। एक समय इसने राजसूय यज्ञ किया। उसमें गुरुकी पत्नीको देख उसपर आसक्त हो गया, गुरुसे उसको छीन लिया और उसके साथ व्यभिचार किया। गुरुने इन्द्रसे पुकार की पर चन्द्रमा इन्द्रके कहनेपर तारा (गुरुपत्नी) को लौटा देनेपर तैयार न हुआ। तब घोर युद्ध हुआ, जिसमें राक्षसोंने चन्द्रमाका साथ दिया। निदान ब्रह्माने बीचमें पड़कर तारा बृहस्पतिको दिला दी। चन्द्रसे ताराके गर्भसे बुध पैदा हुआ जो चन्द्रमाका ही पुत्र कहलाया। मदान्धता ही इस कुकर्मका कारण हुई।

२—'वेन'—ध्रुवके वंशज महात्मा अङ्ग राजाके सुनीथा रानीसे पुत्रेष्टियज्ञद्वारा यह पुत्र हुआ। अङ्ग राजा बड़े ही साधु, सुशील, ब्रह्मण्य और महात्मा थे, पर सुनीथा मृत्युकी कन्या थी। वेन जन्मसे ही अपने नानाके स्वभावको पड़ा। बड़ा निर्दयी था, वनमें जाकर निराश्रय मृग आदि जीवोंको निठुरपनेसे मारता, साथके खेलनेवाले बालकोंको पकड़कर कठोर मार मारता। राजाको नित्य उलाहना मिलता। जब ये साम, दाम, दण्ड, भेद सब करके हार गये, वह न समझा तब इस कुपुत्रके कारण उनको वैराग्य हो गया और वे अर्द्धरात्रिमें घरसे निकल वनको चल दिये। सबेरे सबको खबर हुई। जैसे मायासे ढँके हुए ईश्वरको कुयोगी ढूँढ़नेपर नहीं पाते वैसे ही राजा अङ्गको न ढूँढ़ पाये। हताश होकर मन्त्री आदिने ऋषियोंको एकत्र कर सारा वृत्तान्त कहा। भृगु आदि ऋषियोंने उस दुष्टको पृथ्वीमण्डलका सम्राट् किया, क्योंकि कुलमें और कोई अधिकारी न था। वेन अब तो राज्य पाकर अभिमानसे अत्यन्त उन्मत्त होकर स्वर्ग और मनुष्यलोकोंको कम्पित करने लगा। यज्ञादि सब कर्म-धर्म बंद कर दिये, स्वयं ईश्वर बन बैठा। उस दुष्टचरित्रके आचरणसे सारी प्रजाको सङ्कटमें देख ऋषियोंने आपसमें सम्मति करके उसको समझाकर कुकर्मसे निवृत्त करनेका

* 'नघुषु'—रा० प्र०, गी० प्रे०।

† सहस्रबाहुकी कथा—बा० १। ४। ३, २७२ (८), बा० २७ (२) में। त्रिशंकुकी बा० ६ (८) में। इन्द्रकी बा० दोहा २१०, बा० ३१७ (६) में। नहुषकी अ० ६१ में देखिये।

विचार ठान उसके पास जाकर उसको धर्मोपदेश किया कि धर्मके नाशसे राजा राज्यलक्ष्मीसे शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है, धर्मसे भगवान् प्रसन्न होकर सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं, ब्राह्मणोंद्वारा धर्म होते हैं, उनका अनादर उचित नहीं इत्यादि। दुर्बुद्धि वेनने उनको दुर्वचन कहे और कहा कि राजा ईश्वर है, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि दिग्पाल, पृथ्वी, जल आदि सब राजाके शरीरमें रहते हैं; ऐसे मुझ यज्ञपुरुषको छोड़कर तुम व्यभिचारिणीकी नाईं जारके समान दूसरेकी उपासना करते हो···तुम मेरी ही पूजा करो। सब मुनि ईश्वरकी निन्दा सुन उसपर अत्यन्त कुपित हुए और 'हुंकार' करके उसे मार डाला।—(भा० स्क० ४ अ० १३-१४)

प० पु० भूमिखण्डमें सूतजीने बताया है कि अङ्ग नामके एक प्रजापति अत्रिवंशमें पैदा हुए थे। ये अत्रिपुत्र महातेजस्वी राजा हुए। उन्होंने इन्द्रसमान वैभवशाली पुत्रकी लालसासे अपने पिता अत्रिजीकी आज्ञा लेकर सुमेरु-शिखरकी एक रत्नमय कन्दरामें जाकर भगवान्की आराधना करने लगे। संयम, नियम और उपवास आदि करते सौ वर्ष बीतनेपर भगवान्ने दर्शन देकर वर माँगनेको कहा। राजाने स्तुति करके वर माँगा कि—'जैसी शोभा स्वर्गमें सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न इन्द्रकी है वैसी ही शोभा पानेवाला एक सुन्दर पुत्र मुझे देनेकी कृपा करें। वह पुत्र सम्पूर्ण लोकोंका रक्षक, देवताओंका प्रिय, ब्राह्मणभक्त, दानी, सत्यधर्मपालक, यजमानोंमें श्रेष्ठ, त्रिभुवनकी शोभा बढ़ानेवाला, अद्वितीय शूरवीर, वेदोंका पण्डित, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, शान्त, तपस्वी और सर्वशास्त्रविशारद हो।' भगवान् 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

मृत्युकी कन्या सुनीथा वनमें जाकर गन्धर्व महाभाग सुशङ्खको, जो भारी तपस्यामें लगे हुए थे; नित्य सताती पीटती थी। अस्तु, एक दिन उन्होंने उसको शाप दे दिया कि 'गृहस्थधर्ममें प्रवेश होनेपर जब तुम्हारा अपने पतिके साथ सम्पर्क होगा तब तुम्हारे गर्भसे देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, पापाचारी और दुष्ट पुत्र उत्पन्न होगा।' यह जानकर कि महात्मा अङ्गको धर्मात्मा पुत्रकी प्राप्तिका वरदान मिला है, सुनीथाको चिन्तातुर देखकर उसकी सखियोंने उसे मोहिनी विद्या सिखाकर महाराज अङ्गको मोहित करनेको कहा। अङ्ग महाराजने उससे गान्धर्व-विवाह किया। इस तरह सुनीथा उनकी रानी हुई। उससे वेन उत्पन्न हुआ। वह पुत्र सज्जनोचित आचारसे रहकर क्षत्रियधर्मका पालन करने लगा। उसे सर्वलक्षणसम्पन्न देख प्रजाने ब्रह्माजीसे कहकर उनको प्रजापति-पदपर अभिषिक्त करा दिया। उनके राज्यमें सर्वत्र धर्मका प्रभाव छा रहा था।

एक समय कोई पुरुष छद्मवेष धारण किये उनके दरबारमें आया। राजाने उससे उसका परिचय, उसका धर्म, उसका शास्त्र और उसका आचार पूछा। तब उसने कहा—'मुझे जिनस्वरूप जानो। सत्य और धर्म मेरा कलेवर है। जहाँ 'अर्हन्' देवता, निर्ग्रन्थ गुरु और दयाको ही परमधर्म बताया गया है, वहीं मोक्ष देखा जाता है—यह जैनदर्शन है। अब अपने आचार बताता हूँ। मेरे मतमें यजन, याजन, वेदाध्ययन, संध्योपासन, तपस्या, दान, स्वधा (श्राद्ध), स्वाहा (अग्निहोत्र), हव्य-कव्य, यज्ञ-यागादि, तर्पण, अतिथि-सत्कार, बलिवैश्वदेवादि कर्म नहीं हैं। ये समस्त विधान निरर्थक हैं।' इत्यादि।

इस प्रकार उसने वेद, दान, पुण्य, तीर्थ तथा यज्ञरूप समस्त धर्मोंकी निन्दा करके पापके भावोंद्वारा बहुत कुछ समझा-बुझाकर वेनके हृदयमें पापभावका उदय कर दिया। अब वेनने वैदिक धर्म तथा सत्यधर्म आदिकी क्रियाओंका त्याग कर दिया। उसके शासनसे अब संसार पापमय हो गया। अङ्गके समझानेपर भी वह न माना।

तदनन्तर एक दिन सप्तर्षियोंने उसके पास आकर कहा—'वेन! दु:साहस न करो। यह सारा जगत् तुमपर ही अवलम्बित है, धर्माधर्मरूप सम्पूर्ण विश्वका भार तुम्हारे ही ऊपर है। राजाको धर्मका मूर्तिमान् स्वरूप माना गया है। राजाका कर्तव्य है कि वह धर्मकी रक्षा करे। तुमने प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं राजा होकर धर्मका पालन करूँगा,' अत: उस प्रतिज्ञाके अनुसार धर्म करो और सत्य एवं पुण्यको आचरणमें लाओ।'

उनके वचन सुनकर वह हँसकर बोला—'मैं ही परम धर्म हूँ और मैं ही सनातन देवता अर्हन् हूँ। धाता, रक्षक और सत्य भी मैं ही हूँ। मैं परम पुण्यमय सनातन जैनधर्म हूँ। मैं ही सम्पूर्ण भूतों और विशेषत: सब धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण हूँ। ज्ञान, पराक्रम, तपस्या और सत्यके द्वारा मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कौन है; तुमलोग मुझ धर्मरूपी देवताका ही भजन करो···।'

ऋषियोंने फिर और भी समझाया और यह भी बताया कि 'जैनधर्म सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका धर्म नहीं है। कलियुगका प्रवेश होनेपर ही कुछ मनुष्य इसका आश्रय लेंगे और वैदिक धर्मका आचार त्यागकर पाप बटोरेंगे।…तुम कलियुगके व्यवहारको त्याग दो और पुण्यका आश्रय लो।'

वेनको बहुत बढ़-बढ़कर बातें करते देख सप्तर्षि कुपित हो उठे। उनके शापके भयसे वेन एक बाँबीमें घुस गया। किन्तु ब्रह्मर्षि उस क्रूर पापीको वहाँसे बलपूर्वक पकड़ लाये और क्रोधमें भरे हुए वे उसकी बायीं जङ्घा (वा, बायाँ हाथ?) मथने लगे। निषाद, किरात, भील, नाहलक, भ्रमर, पुलिन्द तथा और भी जितने म्लेच्छजातिके पापाचारी मनुष्य हैं, वे सब वेनके उसी अङ्गसे उत्पन्न हुए। तब यह जानकर कि वेनका सब पाप निकल गया, वे प्रसन्न हुए और अब दाहिना हाथ मथने लगे। उससे महान् तेजस्वी एक पुरुष उत्पन्न हुआ जिसके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, हाथमें अजगव नामक आदिधनुष और दिव्य बाण और शरीरपर कवच था। मन्थनसे उत्पन्न होनेसे पृथु नाम रखा गया। ब्रह्मादि सभीने महाराज पृथुका अभिषेक किया। प्रजाका अनुरञ्जन करनेसे उनका नाम 'राज-राज' हो गया।

भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥ २॥
एक कीन्हि नहिं भरत भलाई। निदरे रामु जानि असहाई॥ ३॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुखु पेखी॥ ४॥
एतना कहत नीति रस भूला। रनरस बिटप पुलक मिस फूला॥ ५॥

शब्दार्थ—**'उचित'**=करने योग्य, मुनासिब, ठीक। **'रिन'** (ऋण)=कर्ज। **'रंच'**—(सं० न्यंच)=थोड़ा-सा भी, किञ्चित् भी, अल्प, तनिक, **'असहाई'**=असहाय, निःसहाय, जिसे कोई सहारा न हो, जिसका सहायक न हो। **'रनरस'**=वीररस।

अर्थ—भरतजीने यह उपाय उचित ही किया है; क्योंकि शत्रु और ऋण थोड़ा भी कभी न (शेष) रखना चाहिये अर्थात् यह नीति है, उसीपर चले, यह चाहिये ही; पर॥ २॥ भरतने एक काम अच्छा नहीं किया, कि 'राम' को निःसहाय जानकर उनका निरादर किया। (अर्थात् वनमें उनके पास सेना आदि न समझकर उनसे लड़ने आ रहे हैं)॥ ३॥ सो वह भी आज उन्हें खूब अच्छी तरह (खास तौरपर) समझ पड़ेगा जब वे संग्राममें श्रीरामजीका क्रोधपूर्ण मुख देखेंगे॥ ४॥ इतना कहते ही वे (लक्ष्मणजी) नीतिरस भूल गये। वीररसरूपी वृक्ष पुलकके बहाने फूल उठा। अर्थात् नीतिकी बात कहते-कहते उनके हृदयमें वीररस उदय हो आया, वीररसकी पुलकावली शरीरमें हो आयी॥ ५॥

नोट—१ *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'* यह नीति है*। ये बारंबार बढ़ जाते हैं, यदि किञ्चित् भी रह गये। इससे इन्हें निःशेष ही करके छोड़े। अरण्यकाण्डमें छः गिनाये हैं, पर यहाँ निःशेषका प्रयोजन है और वहाँ इतना ही है कि इन्हें छोटा न मानना चाहिये। छोटा समझकर उनका निरादर न करे—*'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।'* (आ० २१)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'रिपु रिन रंच न राखब'*—यहाँ राम रंचमात्र हैं, क्योंकि असहाय हैं, राज्यके जो सात अङ्ग हैं उन सबसे हीन हैं और भरत पूर्ण अङ्गसम्पन्न हैं—मन्त्री, सेना, कोश, राज्य आदि सभी उनके हाथमें हैं।

टिप्पणी —२ *'निदरे राम जानि असहाई'*—उन्होंने एक तो शत्रु माना, दूसरे सहायताहीन समझा, यह बुरा किया। व्यङ्गसे जनाया कि राम तो सबके सहायक हैं, इनकी सहायता कौन करे? उनको सहायताकी अपेक्षा ही नहीं है।

---

* यथा—'ऋणशेषश्चाग्निशेषः शत्रुशेषस्तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्तन्ते तस्मान्निःशेषमाचरेत्' इति सुभाषितरत्नभाण्डागारे। ऋण, अग्नि, शत्रु ये बार-बार बढ़ जाते हैं, इनको निःशेष कर दे।

टिप्पणी—३ *'समर सरोष राम मुखु देखी'*—जैसे कपिलदेवने सरोष दृष्टिसे देखा तो सगरके साठ हजार पुत्र भस्म हो गये। ये तो दो ही भाई हैं।

टिप्पणी—४ *'एतना कहत नीति रस भूला।'''* इति। पु० रा० कु०—*'एतना कहत'* अर्थात् *'समर सरोष राम रुखु देखी'* ये शब्द ज्यों ही मुखसे निकले त्यों ही यह खयाल आ गया कि अरे यह क्या हमने कहा, हमारे (सेवकके) रहते हुए भी हमारे स्वामीको समरमें सरोष होना पड़े, तो हमको धिक्कार है, हम किस दिन काम आवेंगे। बस, कहाँ तो नीति कह रहे थे, कहाँ वीररस जाग उठा कि हमारे जीते-जी स्वामीको क्यों युद्धका कष्ट हो? हम ही संग्राम करेंगे, यह उत्साह हो आया। **'उत्साहवर्द्धनो वीरः।'** यहाँ वीररसको वृक्ष कहा। पुलकावलीका होना उसका फूलना है। दोनों भाइयोंका मारना फल है।

शीला—*'पुलक मिस'* का भाव यह है कि वृक्ष समयपर फूलता है, यहाँ वीररसके उदयका अवसर नहीं है।

वै०—अभीतक क्रोध स्थायीसे रौद्ररस रहा, क्रोधपूर्वक नीतिकी वार्ता कहते रहे। जब कहा कि *'समर सरोष राम मुख पेखी'* भरतको विमुखताका फल समझ पड़ेगा और इसपर भी रघुनाथजी न बोले तब जान लिया कि उनकी यही इच्छा है, नहीं तो हमको रोकते। यह विचार आते ही क्रोध स्थायी जाता रहा, वीररस उदय हो गया, उत्साह स्थायी हो गया। यहाँ रौद्ररस और वीररसका भेद वर्णन किया है।

प० प० प्र०—**मिस**=व्याज, दंभ, अपदेश। (अमरकोश)। अन्वय यह है—*'रस रणविटप मिस पुलक फूला।'* **रस**=दास्यरस। अर्थ यह है—'दास्यरस रणविटपके व्याजसे पुलकरूपमें फूला'। भाव कि जब विचार आ गया कि नीतिरस पिलाना सेवकका धर्म नहीं है तब उस सेवाभावने वीररस-रणविटपके व्याजसे पुलकरूपी फूल धारण किये। अर्थात् यह सेवाका सुअवसर जानकर आनन्द हुआ।

नोट—२ *'मनहुँ बीररस सोवत जागा'* इति।—वीररसमें उत्साह और वीरता आदिकी परिपुष्टि होती है। इसका वर्ण पीत (वा रक्त) और देवता इन्द्र माने गये हैं। उत्साह इसका स्थायीभाव है और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क और रोमाञ्च आदि इसके संचारी भाव हैं। भयानक, शान्त और शृंगाररसका यह रस विरोधी है।

प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी॥ ६॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचार* न थोरा॥ ७॥
कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें॥ ८॥
दो०—छत्रि† जाति रघुकुल जनमु राम अनुग‡ जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥ २२९॥

शब्दार्थ—**उपचार** (सं०)=व्यवहार, अभ्यास, इलाज, यथा—*'ग्रह गृहीत''कवन उपचार।'* **मन मारें**=मनके वेग या किसी विकारको दबाये या रोके रखना, खिन्नचित्त वा उदास रहना, मनकी इच्छाको दबाकर उसे वशमें रखना मन मारे रहना है। यहाँ मारे=दबाये।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके चरणोंको प्रणाम करके और चरणरजको सिरपर रखकर अपना सच्चा और स्वाभाविक बल कहते हुए बोले॥ ६॥ हे नाथ! मेरे कहनेका बुरा न मानियेगा, भरतसे हमसे कुछ थोड़ा

* उपचरा—ना० प्र०, वि० त्रि०। (त्रिपाठीजी इसे प्राचीन पाठ कहते हैं)। लाला भगवानदीनजीने भी 'उपचरा' पाठ दिया है। पर गी० प्रे० और लाला सीताराम 'उपचार' पाठ राजापुरका बताते हैं। रा० प० में भी 'उपचार' है अतः हमने 'उपचार' ही रखा है।

† 'छत्रजाति'।

‡ 'अनुज'—(रा० प्र०)।

व्यवहार नहीं है (अर्थात् बहुत दिनोंसे और बड़ा बुरा व्यवहार चला आ रहा है।)* एवं भरतजीके लिये हमारे पास कुछ कम दवा नहीं है॥७॥ कहाँतक सहा जाय? और कहाँतक मन मारे रहा जाय? एक तो, हे नाथ! स्वामीका (आपका) साथ, (दूसरे) हमारे हाथमें धनुष है॥८॥ जातिका क्षत्रिय (उसपर भी) रघुकुलमें मेरा जन्म और (सबसे विशेष यह कि) श्रीरामजीका अनुगामी हूँ, यह संसार जानता है (फिर भला कैसे सह सकूँ। देखिये) धूलके समान कौन नीच है (अर्थात् वह अति नीच है, पैरों तले सदा रहती है, इससे नीचा और कोई नहीं हो सकता) सो वह भी लात मारनेसे सिरपर ही चढ़ती है, (अर्थात् फिर भला जो ऊँचा होगा वह अपमान कब सह सकता है?)॥२२९॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'प्रभुपद बंदि सीस रज राखी'* इति। यह मङ्गलाचरण किया। भाव कि जो कुछ मैं करूँगा वह इन्हीं चरणोंके प्रतापसे, ये ही हमारे रक्षक हैं। दूसरे, ऐसा करके अनुचितकी क्षमा चाही।

टिप्पणी—२ *'बोले सत्य सहज बल भाषी।'* अर्थात् जो कहा वह सत्य है, इनका बल ऐसा ही है, इन्होंने कुछ घमण्ड या आवेशमें आकर कुछ बनाकर या झूठ नहीं कहा है। [पुनः, इसका अन्वय *'सत्य भाषी सहज बल बोले'* यह करनेसे अर्थ होता है कि 'जो (उनकी कल्पनानुसार) सत्य था, वह अपना सहज बल कहने लगे।' *'अनुचित नाथ न मानब मोरा।'''थोरा॥'* (७) यह सत्य कहा और *'कहँ लगि'''धूरि समान'* यह बल कहा। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'भरत हमहिं उपचार न थोरा'* इति।—हमसे भरतसे थोड़ा उपचार नहीं है, बहुत बड़ा है, हमारे प्राण (लेने) के बहुत उपाय करते आये, वनवास कराया, अब यहाँ भी पीछा करते आये, प्रचारते ही आये हैं और हम सहते ही गये। अब कहाँतक सहें? सहा नहीं जाता, न मन मारे रह सकें। (मिलान कीजिये—**'अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत्।'**(वाल्मी० २।९६।२१)।**'''यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतम्।'** (२२) **'पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते।'** (२४) अर्थात् जिसके कारण इतने कष्ट उठाने पड़ते हैं उन भरतको मैं देखूँगा। जिसके कारण आप सनातन राज्याधिकारसे वंचित किये गये। जिसने पहले अपना अपकार किया है, उसका वध करनेमें अपकार नहीं होता किन्तु धर्म ही होगा।—ये सब भाव *'अनुचित नाथ न मानब मोरा।'''* में आ जाते हैं।)

यदि इसपर कहें कि हमको सर्वथा शान्त ही रहना चाहिये, इस वेषका धर्म ही है—क्षमा, शील, शान्ति। उसपर कहते हैं कि *'कहँ लगि सहिअ'''* अर्थात् हमारी चलती तो आप भला राज्य छोड़ सकते, वनवास करते? हमें अपना मन मारना पड़ा था, अब भी पीछा नहीं छूटता। फिर वेष वह है पर धनुष भी तो हाथमें है, क्षत्रियधर्म तो नहीं छोड़ा है।

गौड़जी—'भरतजीके लिये हमारे पास थोड़ा इलाज नहीं है। आप साथ हैं और हाथोंमें धनुष है। इतना इलाज बहुत है।' उपचार शब्दका प्रयोग मानसमें ही अन्यत्र इलाजके अर्थमें हुआ है।

वि० त्रि०—*'अनुचित नाथ''थोरा'* इति। लक्ष्मणजी रामनिरादर सह नहीं सकते। भरतजीकी ओरसे रामनिरादरकी भावना समझकर आपेसे बाहर हो गये। भरतजीसे युद्ध करनेको तैयार हैं। कहते हैं कि मुझे सरकारसे भय है कि मेरी प्रवृत्तिको आप अनुचित ठहरावेंगे, परन्तु अनुचित है नहीं। भरतने हम-लोगोंकी थोड़ी पूजा नहीं की है (अर्थात् थोड़ा दुःख नहीं दिया है) षोडशोपचारसे पूजन किया है। हमलोगोंका सर्वस्व हरण किया है, देशसे निकाला, वन भेजा। माँ छूटी, बाप छूटे, कुटुम्ब छूटा, जंगल-जंगल मारे-मारे फिरते हैं। इतनेपर भी संतोष नहीं है। सरकारको अकेला जानकर निरादर करने चले हैं।

* इसके अर्थ लोगोंने यों किये हैं—१—भरतसे हमारे पास कम सामान नहीं है—(वीर)। २—हमपर जब थोड़ा नहीं किया, दुःख देनेका उपाय बहुत किया—(रा० प्र०)। ३—भरतने हमारे साथ कम (कु) व्यवहार नहीं किया—(दीन)।—पर, यह अर्थ 'उपचरा न थोरा' पाठका किया गया है। ४—भरतके और हमारे बीच परस्पर व्यवहार थोड़ा नहीं है।—[उपचार=व्यवहार]। परन्तु उपचारका अर्थ 'अभ्यास' लिया जाय तो 'भरतकी अपेक्षा हमलोगोंका युद्धका अभ्यास कम नहीं है' यह अर्थ होता है—(गौड़जी)। ५—'भरतने हमें कम नहीं प्रचारा है (हमारे साथ कम छेड़-छाड़ नहीं की है)। (गी० प्रे०)।

प्राचीन पाठ '**उपचरा**' है, और यही ठीक है। व्यञ्जनामें आज भी 'पूजा' का प्रयोग निरादरके अर्थमें होता है।

प० प० प्र०—*'कहँ लगि सहिअ'''* से स्पष्ट है कि भरतजीने जो उपचार किया उसका सहना कठिन था] पर आजतक मन मारकर सहा गया, अब असह्य हो गया। इससे 'उपचार' का 'दुर्व्यवहार, सताना' अर्थ ही संदर्भानुकूल है। इससे सम्बन्धित दूसरा श्लिष्टार्थ यह भी निकलता है' कि इसका बदला देनेको हमारे पास भी उचित उपचारका सामर्थ्य है।—*'भले भवन अब बायन दीन्हा।'*

रा० प्र०—*'नाथ'''छत्रिजाति रघुकुल जनम राम अनुग'''* इति। भाव कि शूरोंके साथ कादर भी शूर हो जाता है। आपके समान संसारमें कोई वीर नहीं, ऐसे स्वामीके साथ कैसा ही प्रबल शत्रुका सामना पड़े तो डर नहीं हो सकता; हाथमें धनुष है अर्थात् अस्त्र-शस्त्र धारण करनेपर, शूर न भी हो तो भी, भागनेकी लज्जा होती है। जाति है क्षत्रियकी, जो न सहनेवाली प्रसिद्ध है; बनिया होते तो सह जाते। रघुकुल जन्म कि जिस कुलका सहज-स्वभाव है कि *'जो रन हमहिं प्रचारइ कोई। लरहिं सुखेन काल किन होई॥', 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।'* जनक महाराजतकको भरी सभामें डाँट दिया, परशुरामका तिरस्कार किया। फिर जगत् जानता है कि आपका छोटा भाई हूँ। भाव कि आप महारणधीर हैं तो आपका भाई होकर मैं क्योंकर रणधीर न हूँगा।

नोट—१ (क) धूल पैरके नीचे सदा रहती है पर वह पैर जब जरा अपना क्रोध दिखलाता है तो वही धूल उसे नहीं सह सकती। यहाँ '**धूरि**' स्त्रीलिंग पद दिया। भाव यह कि वह अबला है, बलहीन है, सो भी अपना अपमान नहीं सह सकती फिर जिसमें बल हो वह कैसे सहे? (ख) *'नीच को धूरि समान',* यथा—*'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पग प्रहार नित सहई॥'* (७। १०६) पर जब कोई क्रोधसे या जोरसे उसपर पैर पटकता है तब वह भी नहीं सहती। अबतक वे कुचलते आये हम सहते गये, सेना लेकर यहाँ आये मानो लात चलायी तो अब हम उनके सिरपर ही चढ़ बैठेंगे।

नोट—२ *'कहँ लगि सहिअ'''* के कारण इतने बताकर जनाया कि इनमेंसे कोई भी एक गुण होनेसे निरादर कोई सह नहीं सकता और यहाँ तो इतने गुण एकत्र हैं, तब कैसा होना चाहिये यह समझ लें। 'दूसरा समुच्चय' अलंकार है।

लक्ष्मण-क्रोधाभिनिवेश

१—मा० हं०—'यह वर्णन तो बड़ा ही आवेशपूर्वक किया हुआ दिखता है। लक्ष्मणजीका स्वभाव इसमें अच्छी तरहसे निर्दिष्ट किया है। विकारवश हो जानेवाले स्वभावके कारण, दूसरोंकी सारी जन्मकी कमाईकी, छोटा-सा भी कारण आ जानेपर, एक क्षणमें अवहेलना हो जाती है, यह बात कविने *'भरत हमहिं उपचार न थोरा'* इतनेहीमें बड़ी सुन्दरतासे दिखलायी है। लक्ष्मणजीके ऐसे अपस्मारी बननेके पहले बेचारे भरतजी उन्हें कैसे अच्छे दीखते थे, परन्तु विकारवशताके एक ही झटकेसे वे ही भरतजी उन्हें कुछ-के-कुछ दिखायी देने लगे। कविका यह स्वभाव निरीक्षण बहुत ही मार्मिक हुआ है। अध्यात्म और वाल्मीकिमें यह इतना सुन्दर नहीं है।

प० प० प्र०—लक्ष्मणस्वभावका यह शब्दचित्र (जो दोहा २३० तक है) मानवी मानसका तथा अनन्य सेवक-दास्यभक्तका एक उत्कृष्ट नमूना है। जिसमें अपने सेव्यको दुःख देनेवाले अपने सहोदरको भी एक क्षणमें सुहृद्के बदले महान् शत्रु मानने लगता है। लक्ष्मणजीके —*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'''जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।'* (७२। ४—६)—ये वचन यहाँ अक्षरशः चरितार्थ करके बताया है कि—(१) सौतेले भाईके प्रेमवश सहोदर भ्राताको भी मारनेको तैयार होना पूर्ण निर्ममत्वका ही द्योतक है। प्रेम अंधा होता है। इससे कभी-कभी विवेक विलोचन भी कैसा और कितना मलिन हो जाता है यह भी बड़ी रमणीय और रोमाञ्चकारी भाषा-शैलीसे सुचित्रित किया है। श्रीलक्ष्मणजीके ये दो चित्र एक ही पटपर चित्रित करनेसे बड़ा सुन्दर भावोद्बोधक चित्र बन जायगा

और उसके नीचे Look at this picture and that (इस चित्रको देखो और उसे भी) लिखना भी उचित होगा।

३—गौड़जीका लेख २२७ (६—८) में देखिये।

उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहु बीररस सोवत जागा॥ १॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥ २॥
आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावनु देऊँ॥ ३॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥ ४॥

शब्दार्थ—***सिखावनु***=शिक्षा, किसी अनुचित कार्यका बुरा परिणाम जिसमें फिर वैसा काम न करे, सबक, दण्ड। सिखावन देना=सबक देना, मजा चखाना, दण्ड देना। ***सोवहुँ***=सोवें। महाकवि तुलसीदासजीने ऐसा प्रयोग बहुत स्थानोंमें किया है। उदाहरण—***'जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥'*** (२०५। १) ***'लखन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।'*** (२८२)। इत्यादि। ***'सोवहुँ'*** लोट्लकारका अपभ्रंश है और **'सोवहिं'** लट्लकारका। रा० प्र० कार इसे वर्तमान क्रिया मानते हैं। पूर्व इस सम्बन्धमें लिखा जा चुका है।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी उठकर हाथ जोड़कर आज्ञा माँगी मानो वीररस सोतेसे जग पड़ा हो॥ १॥ जटाएँ सिरपर बाँधकर कमरमें तरकस कसकर, धनुषको सजाकर, हाथमें बाण लेकर बोले—॥ २॥ आज मैं रामसेवक होनेका यश लूँ (प्राप्त करूँ), भरतको रणमें सबक दूँगा (कि रामविमुखकी कैसी दुर्गति होती है)॥ ३॥ श्रीरामजीके अपमानका फल पाकर दोनों भाई रणशय्यापर सोवें॥ ४॥

नोट—१ ***'उठि कर जोरि रजायसु मागा।'*** इति। ***'उठि'*** का भाव कि अभीतक बैठे-बैठे कह रहे थे। ***'कर जोरि रजायसु मागा'*** इससे स्पष्ट है कि वे जो जिस समय उचित समझते हैं कह डालते अवश्य हैं, किन्तु प्रभुकी आज्ञा बिना वे कुछ करते नहीं, आज्ञाके विरुद्ध तो कुछ करेंगे ही नहीं। जानते हैं कि उचित होगा तो प्रभु आज्ञा देंगे, नहीं तो नहीं। सरकारका वाक्य है—***'सदा करौं तिन्ह कै रखवारी।'''।'*** धनुषयज्ञ तथा परशुरामप्रसङ्गमें भी देख लीजिये। वहाँ भी ***'नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान।'*** (१। २५२) और आज्ञा माँगी है। यथा—***'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥ ''''''नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ॥'*** यहाँ ***'बीररस सोवत जागा'*** चेतनता द्योतक पद दिया है। ***'मनहुँ बीररस सोवत जागा'*** अर्थात् मानो लक्ष्मणजी नहीं उठे किंतु वीररस सो रहा था सो उठा। स्वाविक काव्यकी यह रीति है कि शान्तरसके उदयपर सब रस सो जाते हैं और जब वह नहीं रहता तब शेष आठों रस विलास करते रहते हैं। वनवासके समयसे बराबर शान्तरस उदित रहा, जब भरतजीको प्रतिकूल जाना तब वीररस जो सो रहा था वह जग उठा। (वै०) (ख) शरीर रक्तवर्ण हो गया, अत: वीररस जागना कहा। (पं०)

प० प० प्र०—***'बीररस सोवत जागा'*** इति। (क) ***'कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारे'*** से मिलान कीजिये। यह वीररस तो वनगमन समयसे ही क्रियाशील हो जानेको था किंतु श्रीराम इच्छारूपी माताने उसे नीतिमर्यादापालनरूपी पर्यङ्कपर सुला रखा था। अब ससैन्य भरतागमनवार्तारूपी रणदुन्दुभिघोषणाने उसको जगा दिया। जागनेके लक्षण देखिये—***'अरुन नयन भृकुटी कुटिल।'*** जागनेके बाद क्रियाशीलता होती है, वह यहाँ ***'बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा।'''*** इत्यादिसे सूचित की गयी। (ख) बालक प्रथम जाग्रत् होता है तब हाथ-पैर हिलाने लगता है, फिर 'मा' आदि शब्द उच्चारण करता है। वही क्रम यहाँ है—***'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।'*** ही लक्ष्मणजी हैं। माताका कष्ट देखकर बालकमें भी वीररस जाग्रत् होना ही चाहिये। यहाँ 'हेतुरहित उपकारी आनन्दसिंधु' ही माता हैं।

नोट—२ (क) ***'साजि सरासनु सायकु हाथा'*** अर्थात् धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर संग्रामके लिये सन्नद्ध हो गये। (ख) ***'आजु रामसेवक जसु लेऊँ'*** इति। मिलान कीजिये—***'स्वामि काज करिहउँ रनरारी। जस***

धवलिहउँ भुवन दसचारी॥' 'सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस धनुष सनाह।' (१९०), निषादराजने भी तरकस धनुष, कवच धारण किये और कहा कि स्वामीके कार्यके लिये लड़ूँगा। जिससे चौदहों लोकोंमें उज्ज्वल यश होगा। श्रीलक्ष्मणजीके वाक्यमें भी वही भाव है। स्वामीका काम करनेसे सेवकको यश प्राप्त होता ही है। निषादराज जानता था कि जीतूँगा नहीं, मेरे प्राण जायेंगे पर जीते जी पार न होने दूँगा। इसीसे उसने कहा था कि *'बड़े भाग असि पाइअ मीचू।'* और लक्ष्मणजीको विश्वास है कि मैं अकेला सबको मार गिराऊँगा। इसीसे कहते हैं कि *'भरतहि समर सिखावनु* देऊँ।' अर्थात् आज सबको मार डालूँगा। जबतक वे मारे न जायँगे तबतक शिक्षा न होगी। (पु० रा० कु०) ऐसा करनेसे आज सच्चा सेवक कहलाऊँगा। (ख) *'सोवहु सेज'* इति। रा० प्र० का मत है कि यहाँ भविष्य क्रिया न देकर वर्तमान क्रिया देकर वीररसकी पूर्णता दिखायी है। *'समर सेज'—'सोवहु'* के सम्बन्धसे समरको शय्यासे रूपित किया क्योंकि शय्यापर राजा लोग सोते ही हैं।

आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू॥५॥
जिमि करि निकर* दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥६॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥७॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥८॥
दो०—अति सरोष माषे लषनु लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥२३०॥

शब्दार्थ—**'आइ बना'**=एकत्र हुआ। 'आ बनना'=किसीको लाभ उठाने या स्वार्थ-साधनका मौका हाथ लगता—पर यह अर्थ यहाँ नहीं संगत है। **'लवा'**—'तित्तिरः ककुभो लावः' (अमरकोष) तीतर। *'जनु सचान बन झपटेउ लावा॥'* (२९। ४) देखिये।' **'भभरि'**=भयभीत होकर, घबड़ाकर, डरकर। 'लपेट लेना'=पकड़में कर लेना, अङ्गोंको चारों ओर सटाकर घेरेमें कर लेना; ग्रसना। 'निदरि'=निडर होकर वा निरादर करके। 'दलइ'—दलना=टुकड़े-टुकड़े कर डालना, नष्ट करना, विदीर्ण करना। **'प्रवान'** (प्रमाण)=निश्चय, दृढ़ धारणा, प्रतीति, यथा—*'सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा।'*=मर्यादा, थाप, साख—*'तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना।'* (१। १२३। १) विशेषण माननेसे अर्थ होगा—सत्य, प्रमाणित, ठीक घटता हुआ—*'बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान॥'* (५३) मान्य, प्रामाणिक, मानने योग्य, ठीक—*'नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान।'* (१। २५२)

अर्थ—अच्छा हुआ जो सारा समाज इकट्ठा आ जुटा। आज मैं पिछला क्रोध प्रकट करता हूँ॥५॥ जैसे सिंह हाथियोंके समूहको दल डालता है, जैसे बाज लवाको (चंगुलमें) लपेट लेता है॥ ६॥ वैसे ही भरतको भाईसहित और सेनासमेत तिरस्कार करके रणके मैदानमें मार गिराता हूँ॥७॥ जो शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें तो श्रीरामजीकी कसम है! उन्हें भी (वा, तौ भी भरतको) रणमें मार गिराऊँगा॥८॥ लक्ष्मणजी अत्यन्त क्रोधपूर्वक रुष्ट हुए, यह देखकर और सत्य प्रामाणिक शपथ सुनकर सब लोक भयभीत हो गये और सब लोकपाल घबड़ाकर अपने लोकोंको छोड़कर भागना चाहते हैं॥ २३०॥

नोट—१ *'आइ बना भल'* अर्थात् बड़ी अच्छी बात बन गयी कि सारा समाज एकट्ठा ही मिल गया, नहीं तो किस-किसको ढूँढ़ते। दूसरे यह भी जान गये कि ये सब शत्रुपक्षके हैं, वैसे पता भी न चलता। (पु० रा० कु०)

नोट—२ *'प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू'* इति। यह वह क्रोध है जिसका उल्लेख वाल्मीकीयमें है। वाल्मी० २। २१ में श्रीकौसल्या अम्बाको दुःखित देखकर उन्होंने श्रीरामजीसे कहा है कि 'आप

* 'निकरि'—(ला० सीताराम)

राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष लेकर आपकी रक्षामें तत्पर रहूँगा! यमराजके समान मेरे रहते किसकी शक्ति है कि आपके विरोधमें खड़ा हो? यदि कोई विरोधमें खड़ा होगा तो मैं अपने तीखे बाणोंसे समूची अयोध्याको मनुष्यहीन कर दूँगा। जो कोई भी भरतके पक्षमें हो अथवा उनका हितकारी हो, उन सबको मैं मारूँगा, शान्त रहना अच्छा नहीं। यदि पिता शत्रुपक्षका साथ दें तो वे भी निस्संदेह कैद कर लिये जायेंगे। गुरु भी यदि अहंकारमें आकर कार्याकार्यका ज्ञान खो दें, मर्यादाका उल्लङ्घन करके मन-माना काम करने लगें तो उनका भी शासन करना चाहिये, उन्हें भी दण्ड देना चाहिये।' इत्यादि। (श्लोक ८—१५) '**निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ। करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥**' (१०) इत्यादि ही वह '**रिस**' है।

सर्ग २३ में भी उनका क्रोध वर्णित है। उन्होंने कहा है—जिन लोगोंने दैवके कारण अभिषेकमें विघ्न देखा है, वे आज मेरे पुरुषार्थद्वारा भाग्यको भी नष्ट देखेंगे। तीनों लोक और समस्त लोकपाल भी मिलकर रामचन्द्रजीके अभिषेकको नहीं टाल सकते। मैं पिताकी आज्ञा तथा उसकी भी आशाको जला दूँगा जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रके राजा होनेकी कामना करती है। ...मेरी भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं और न धनुष मेरा आभूषण है। ये शत्रुके मथन करनेके लिये ही हैं। मैं इन्द्रको भी मार सकता हूँ। धनुष ग्रहण करनेपर संसारमें कौन पुरुष योद्धा बनकर मेरे सामने खड़ा हो सकता है। आपका प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये मेरा अस्त्र-सम्बन्धी पराक्रम प्रताप अपना प्रभुत्व फैलावेगा। मैं आपका सेवक हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राम-राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके दुःखसे लक्ष्मणजीको सबसे अधिक क्रोध हुआ था, वे क्रोधित हाथीके समान हो गये थे, उनकी आँखें चढ़ आयी थीं।—'**सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम्।**' (२।२२।१) वे क्रोध दिलाये हुए बिलस्थ सर्पके समान साँसें ले रहे थे। उस समय उनका दुष्प्रेक्ष्य मुख क्रोधित सिंहके मुखके समान था—'**निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः॥ तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भृकुटीसहितं तदा। बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम्॥**' (२।२३।२-३)

जैसे मानसमें '*प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू*' शब्द हैं इसी तरह वाल्मी० (२।९६) में '**अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद॥**' (२७) '**मोक्ष्यामि**...।' ये वचन हैं। अर्थात् आज अपने रोके हुए क्रोध तथा तिरस्कारको शत्रुसेनापर छोड़ूँगा। इसपर श्रीरामजीने उनसे कहा है कि 'तुम्हारी मुझमें जो भक्ति है और तुम्हारा जो पराक्रम है उसे मैं जानता हूँ।—'**अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव जानामि भक्तिं च पराक्रमं च।**' (२।२१।५६) और उनको बारंबार समझानेपर भी जब उनको संतोष न हुआ तब यही कहा कि 'मैं पितामाताकी आज्ञाके अधीन हूँ ऐसा समझो, यही सन्मार्ग है।—'**उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः।**' (२। २३। ४२) तब वे क्या करते, मन मारकर रह गये। पर मानसमें उसका लेशमात्र नहीं कहा था क्योंकि लोकशिक्षाके अनुकूल नहीं है। यहाँ इतना जना दिया कि इनको क्रोध हुआ था कि राज्याभिषेक कहकर वन क्यों दिया गया; पर श्रीरामजीके संकोचसे वहाँ कुछ न कह सके थे। किंचित् इशारा सुमंतजीको उस क्रोधका दिया था। जो '*पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥*' (९६। ४) और सुमन्त्रजीके '*लषन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥*' (१५२। ७) इन वचनोंसे लक्षित होता है। कठोर वचन क्रोध होनेपर ही निकलते हैं—'*क्रोध के परुष बचन बल।*' आज कैकेयीके वनवास दिलानेका बदला लूँगा। यहाँ वाल्मीकिजीका भी मान एक चरणसे रख दिया। किसी कल्पमें वैसा ही हुआ होगा। जो यहाँ कहा ऐसा ही क्रोध वहाँ मनमें था, यह यहाँ समझ लें।

वै० भू० जीका मत है कि शृङ्गवेरपुरवाली रिसको यहाँ '*पाछिल रिस*' कहा है। क्योंकि पिछली बार रिस शृङ्गवेरपुरमें ही हुई थी।

किसी-किसीने—(पां०, वि० टी०) —यहाँ '*पाछिल रिस*' से 'प्रलय समयका क्रोध' ऐसा अर्थ

किया है। अर्थात् जैसे प्रलयकालमें हजार मुखसे ज्वाला निकालकर ब्रह्माण्डका प्रलय करता हूँ, वैसे धनुषबाणसे आज इन सबको नष्ट करूँगा। पर यह क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं जो प्रसङ्गानुकूल नहीं हैं।

'यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितू रविकान्तः। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते॥' इति नीतिः॥ (वंदन पाठकजी)

नोट—३ *'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू'''* इति। अवधमें जीमें कैकेयीपर बड़े कुढ़े थे। यहाँ दो दृष्टान्त दिये। भाव यह कि संसारमें यदि दो वीर लड़ें और करनी करके कोई भी मरे तो उसे भी यश होता है। कहनेका आशय यह है कि यहाँ उनको यश भी न प्राप्त होने देंगे, नामका भी निशान न रहने देंगे। इसी विचारसे दो दृष्टान्त दिये। भरतको लड़नेका मौका ही न देंगे, उनकी ओरसे एक हथियार भी न चलने पावेगा, हम पहले ही मार डालेंगे। सिंह देखते ही झुंडपर वार करता है, हाथियोंके समूहको विदीर्ण करता है। वैसे ही मैं पहले सेनाको दल डालूँगा, उनका जोर न चलने पावेगा। फिर जैसे लवाको बाज लपेट ले, लवा एक चोंच भी नहीं मार सकता वैसे ही भरत-शत्रुघ्नको लपेट लूँगा। वे भागने न पावेंगे। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'यहाँ दो उपमाएँ दीं। एक करिनिकर और मृगराजकी, दूसरी लवा और बाजकी। सेनाको भगानेके लिये सिंहकी उपमा दी और दोनों भाइयोंको पकड़नेके लिये बाजकी। जैसे सिंह हस्तिसमूहको दल डालता है वैसे ही मैं उनकी चतुरंगिणी सेनाको दल डालूँगा। जैसे बाज पंजेमें लवाको जिन्दा लपेट लेता है वैसे ही मैं दोनों भाइयोंको, एक हाथसे भरतको और एकसे शत्रुघ्नको पकड़ लूँगा। भाव यह है कि जैसे लवाके समूहमेंसे बाज दोनों पंजोंमें लवाको पकड़ लेता है और शेष लवा-समूह भाग जाता है, उसी तरह सेनाके भाग जानेपर दोनों भाइयोंको भागने भी न दूँगा। बाजकी तरह बिना प्रयास दोनों हाथोंसे पकड़ लूँगा। **'निदरि'** का भाव यह भी निकलता है कि 'शत्रुहन' आजसे 'शत्रु भागा' कहलायेंगे। उनको थोड़ी दूर भगाकर मारूँगा। (शीला) [(नोट—निदरिका यह भाव पूर्वसे संगत नहीं जान पड़ता। बिरथ आदि दुर्गति करके मारूँगा यह निरादर है। (पं०)]

यदि कोई कहे कि वे बहुत हैं, तुम अकेले क्या कर सकोगे, उसपर ये दृष्टान्त देकर जनाया कि हम अकेले सिंह और बाजके समान हैं, वे करिनिकर और तित्तरके सदृश हैं। मेरे सामने औरकी क्या गिनती जो त्रिपुरान्तक त्रिशूल लेकर आ जायँ तो उनको भी मारूँ। (वै०, रा० प्र०) विशेष ***'जनु सचान बन झपटेउ लावा॥'*** (२९। ४) में देखिये।

नोट—४ *'जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन'* इति। भाव कि (क) शंकरजी संहारकर्त्ता हैं वे सहायता करने आवें तो उनको भी मारूँगा। रामजीके लिये ऐसा करनेकी भी शपथ लेते हैं। भाव यह कि किसी पक्षपातीको न छोड़ेंगे चाहे वह काल ही क्यों न हो। वे संहार करना भूल जायँगे, उन्हें अपनी जानके लाले पड़ेंगे। (शीला)

(श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि 'यहाँ शंकर' का अर्थ 'संहारकर्त्ता' करना वदतो व्याघात है। उस अर्थके वाचक रुद्र, हर और ईश हैं। 'शिव' शब्द भी ईश्वरवाची होनेसे संहारकर्त्ताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥' 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका',* *'रुद्रहि देखि मदन भय माना'* (१। ८६। ४), *'बिधि हरिहर पद पाइ।'* इत्यादि। और शंकर नाम आया है सहज स्वरूप आदिके साथ। यथा—*'संकर सहज सरूप सँभारा।'*) भरतजी शङ्करजीका पूजन करते हैं, अतएव कहा *'जौं सहाय'''*'। अपना इष्ट रघुवीरको समझते हैं और भरतके इष्ट शङ्करको (खर्रा)। आशय यह है कि वे शङ्करजीका पूजन किया करते हैं। इससे सम्भव है कि वे सहायताको आवें, इसीसे *'जौं सहाय कर संकर आई'* कहा। (नं० प०) शङ्कर (कल्याण करनेवाले) आकर भी उनका कल्याण चाहें तो भी कल्याण नहीं हो सकता। (ख) शङ्करजीके लिये तो ऐसा न कहना चाहिये, उनकी पूजा रामजीद्वारा देखते हैं, ऐसा विचार कर दूसरा अर्थ भी दिया गया। पर यह खयाल रहे कि इनका-सा रामानन्य भी कोई नहीं। ये श्रीरामके विरोधीको शत्रु ही मानते हैं, माता-पिता, गुरु आदि किसीकी भी

चिन्ता उन्होंने न की। इन्होंने कभी किसी देवताको नहीं मनाया। *'जौं'* का भाव कि वे आवेंगे नहीं और आये तो फल पायेंगे।

पु० रा० कु०—मेघनादवधकी प्रतिज्ञामें *'जौं सत संकर करइ सहाई। तदपि हतउँ रन राम दोहाई॥'* ऐसा कहा है और यहाँ केवल *'संकरु'* अर्थात् एकहीको कहा। यह भेद क्यों? इससे कि वहाँ श्रीरामजीकी आज्ञा हो चुकी है कि मेघनादको जाकर मारो, इससे वहाँ और भी कड़ी शपथ की और यहाँ *'रजायसु माँगा'* पर अभी मिली नहीं है।

वि० त्रि०—शङ्करभगवान् संहारकर्ता हैं, अतः इनका सामना कोई नहीं कर सकता, तो यदि शङ्करजी भी भरतकी सहायता करें, तो भी राम दोहाई, मैं रणमें भरतको मार ही डालूँगा। दूसरे स्थानपर भी लक्ष्मणजीने इन्हीं शब्दोंमें शङ्करजीको स्मरण किया है, यथा—*'जौं सतसंकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रन राम दोहाई॥'* परशुराम संवादमें भी *'अब आनिय ब्यौहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥'* (१। २७६)। से शङ्करजीपर ही आक्षेप मालूम होता है। अतः यह शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि 'रामजीके अत्यन्त प्रिय शङ्करजीपर लक्ष्मणजी इस भाँति आक्षेप क्यों करते हैं?' सरकार स्वयं कहते हैं *'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। अस बिस्वास तजिअ जनि भोरे॥ संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मंद मति थोरी॥ संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। सो नर करइ कल्प भर घोर नरक महँ बास॥'* उन तीनों स्थलोंमें शङ्करजीका कोई प्रसङ्ग भी नहीं था, फिर नाहक उनका नाम लेकर उन्हें अपमानित करनेसे क्या लाभ?

बात यह है कि तीनों स्थलोंमें शङ्करसम्बन्धी आक्षेपसूचक शब्दोंमें वक्ताका तात्पर्य ही नहीं है, तात्पर्य तो इस बातपर जोर देनेमें है कि मैं शत्रुका वध अवश्य करूँगा, क्योंकि शङ्करभगवान्का इन स्थलोंमें कोई प्रसङ्ग नहीं है। मीमांसाके बलाबलाधिकरणमें '**सा वैश्वदेव्या आमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमिति**' (वह विश्वेदेवसम्बन्धी छेना है, 'छेनाका पानी वाजी देवताके लिये हैं) स्पष्ट कह दिया गया है कि यहाँ वाजी देवताका प्रकरण नहीं है, अतः छेनाका पानी वाजी देवताके लिये है', इन शब्दोंमें वाक्यका तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि छेना विश्वेदेवका आहार है। इसी भाँति शङ्करभगवान्का प्रसङ्ग न होनेसे, तत्सम्बन्धी वाक्यमें तात्पर्य नहीं है, '**न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयं स्तोतुम्।**' निन्दाका निन्द्यके निन्दा करनेमें तात्पर्य नहीं है किन्तु विधेयकी स्तुतिमें तात्पर्य है। शास्त्रोंमें जहाँ तुलसीमाला और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारणकी महिमा है, वहाँ भस्म, रुद्राक्ष धारणकी निन्दा है, और जहाँ भस्मरुद्राक्ष धारणकी महिमा कही गयी है, वहाँ तुलसीमाल-धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा की गयी है। ऐसे वाक्योंमें मोह उन्हींको होता है जो तात्पर्य निर्णयकी विधिसे अनभिज्ञ हैं। जहाँ ऊर्ध्वपुण्ड्र तुलसीमाला धारणकी महिमा कही जा रही है वहाँ भस्मरुद्राक्ष धारणका कोई प्रसङ्ग नहीं है, अतः वह निन्दा तुलसीमाल और ऊर्ध्वपुण्ड्रके स्तुतिके लिये है, भस्मरुद्राक्षकी निन्दाके लिये नहीं। इसी भाँति जहाँ भस्मरुद्राक्षकी महिमा गायी जा रही है, वहाँ तुलसीमाल और ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा भस्मरुद्राक्षकी स्तुतिके लिये है; तुलसी ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दाके लिये नहीं। इस बातको न समझकर लोग व्यर्थ बड़ा भारी विवाद उपस्थित करते हैं।

उपर्युक्त स्थलोंपर शङ्करजीपर आक्षेप केवल शत्रुवधके निश्चयपर जोर देनेके लिये है, न कि शङ्करजीकी निन्दाके लिये। आज भी लोग कह बैठते हैं कि ब्रह्मा आवें तो भी मैं नहीं मानूँगा। उनका तात्पर्य न माननेपर रहता है। ब्रह्मदेवके आज्ञा भङ्गपर नहीं।

नोट—५ *'राम दोहाई'* (क) रामकी शपथ की, इसीसे रण न हुआ। रण होता तो अवश्य मारते। (पु० रा० कु०) पुनः, देवताकी दुहाईसे मन्त्र शक्तिमान् होता है इसीसे *'राम दोहाई'* से अपनी प्रतिज्ञाको शक्तिमान् किया है। (वै०) (ख) लक्ष्मणजी प्रभुको छोड़ दूसरेकी शपथ नहीं करते। मेघनादवधमें भी 'रामदोहाई' है। जनकपुरमें भी *'जौं न करउँ प्रभुपद सपथ'' '* कहा है। औरोंने तो पिता, शङ्कर, गुरु आदिकी शपथें भी की हैं। इष्टकी शपथ प्रमाण है ही। (श्रीप्रज्ञानानन्दजी 'रामदोहाई' का अर्थ 'रामद्रोही' भी करते हैं। यथा—*'पापसिरोमनि साँड़ दोहाई।'*)

लक्ष्मण-गुहका मिलान

श्रीरामसखा निषादराज	श्रीरामानुज लक्ष्मणजी
है कछु कपट भाउ मन माहीं। १८९ (३)।	*कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि*
जौं पै जिय न होति कुटिलाई—	*जौं जिय होति न कपट कुचाली*
तौ कत लीन्ह संग कटकाई—	*केहि सोहाति रथ बाजि गजाली।* (२२८। ७)
जानहिं सानुज रामहिं मारी।	*जानि राम बनबास एकाकी।''''। आए करइ अकंटक*
करउ अकंटक राज सुखारी	*राजू।* (२२८। ५) *निदरे राम जानि असहाई।* (२२९। ३)
भरत न राजनीति उर आनी—	*चले धरम मरजाद मिटाई*
तब कलंक अब जीवन हानी	*केहि न राजमद दीन्ह कलंकू*
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा	*समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुख पेषी॥*
का आचरज भरत अस करहीं	*भरतहिं दोष देइ को जाये*
नहिं बिषबेलि अमिय फल फरहीं	*जग बौराइ राजपद पाये*
स्वामिकाज करिहउँ रनरारी। जस धवलिहउँ भुवन दसचारी	*आजु रामसेवक जसु लेऊँ*
(१९०) *सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस*	*प्रभुपद बंदि सीस रज राखी॥ कसि कटि भाथा। साजि*
धनुष सनाह।	*सरासन सायक हाथा॥*
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ	*'भरतहिं समर सिखावन देऊँ।''' मारउँ रन रामदोहाई'*
एतना कहत छींक भइ बाएँ—	*गगन भइ बानी*
सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा	*सहसा करि पाछे पछिताहीं।*
बूढ़ एक कह''' सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं	*कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥*
भरत सुभाउ सील बिनु बूझे। बड़ि हित हानि	*'अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय''''*
सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा	*सुनि सुरबचन लषन सकुचाने*

नोट—'*सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान।*'—लक्ष्मणजीका क्रोध ऐसा ही है। त्रैलोक्यको कँपा देता है। यथा—'*लषन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥*' '*सकल लोक सब भूप डेराने।*' (१। २५४) इससे जान पड़ता है कि इनके प्रभावको सब जानते हैं। समस्त लोकोंमें हलचल मच गयी। कुछ लोगोंने 'लोक' का अर्थ 'लोग' किया है पर वे लक्ष्मणजीके मानसमें कथित प्रभावको नहीं जानते, यथा—'*सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू॥*' (लं० ५४) यहाँ लक्ष्मणजीके क्रोधका स्वरूप दिखाया कि क्रोध तो एकपर है और डरते अनेक हैं, आतंक तीनों लोकोंपर छा गया है। '*चाहत भभरि भगान*'—भाव कि वे डरे कि यह असमय प्रलय कैसा? क्या प्रलयका समय आ तो नहीं गया?

जगु भय मगन गगन भइ बानी। लषन बाहुबल बिपुल बखानी॥ १॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥ २॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ। समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥ ३॥
सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—'**प्रताप**'= बल, पराक्रम आदि महत्त्वका ऐसा प्रभाव जिसके कारण उपद्रवी शान्त रहें, तेज, इकबाल। '**प्रभाव**'= शक्ति, कोई बात पैदा कर देनेकी ताकत, ऐसा अधिकार या मान कि जो बात चाहे करा ले।

अर्थ—संसार भयमें डूब गया। (तब) लक्ष्मणजीके बाहुबलकी बहुत-बहुत प्रशंसा करती हुई आकाशवाणी हुई॥ १॥ हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभावको कौन कह सकता है और कौन जाननेवाला है?॥ २॥ पर अनुचित या उचित कुछ भी कार्य हो (वा, कोई भी कार्य हो वह उचित है या अनुचित) उसे समझ-

बूझकर कीजिये तो सब कोई अच्छा कहते हैं॥ ३॥ वेद और बुद्धिमान् पण्डित लोग कहते हैं कि जो बिना सोचे किसी कार्यको सहसा करके फिर पछताते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं॥ ४॥

पु० रा० कु० १— *'जगु भय मगन'''* अर्थात् जगत्‌की यह दशा हुई तब यह डर हुआ कि इनके कर्तव्यसे इसका नाश न हो जाय। अतएव तब उसी समय देववाणी हुई।

'आकाशवाणी'

मा० हं०—यह आकाशवाणी कविके हृदयाकाशमें ही प्रथम प्रकट हुई-सी दीख पड़ती है, क्योंकि कहीं इधर-उधर उसका नामतक नहीं सुनायी देता,* परंतु संविधानकी दृष्टिसे वह कविके सप्रेम कल्पना-चातुर्यकी ही द्योतक है। कविने इसमें यह दिखलाया है कि लक्ष्मणजीकी क्रोधाग्नि श्रीरामजीके शान्त पाठोंसे भी शान्त न होती।

शिला—रामजी कुछ न बोले। पहले देववाणी सुनाकर तब बोले। कारण कि लक्ष्मणजी आचार्य हैं, रामजीके अनन्य भक्त हैं। उनके मुखसे जो वचन निकल रहे हैं वे सब सच्चे अनन्य भक्तोंके लिये उदाहरण हैं। वे लोग जान जायँ कि रामभक्ति कैसी होनी चाहिये। कोई भी कैसा ही घनिष्ठ सम्बन्धी, सगा भाई, जगत्‌का आचार्य भी क्यों न हो यदि वह रामविमुख हो, रामविरोधी हो, तो उसके वध या त्यागमें दोष नहीं।

रा० प्र०—देवताओंद्वारा भरतजीके निरपराध होनेकी साक्षी दिलानेके लिये प्रथम न कहा।

नोट—१ ☞ संसारको भयमग्न देखकर देवताओंने आकाशवाणी की। रामजीने लक्ष्मणजीको क्यों नहीं रोका? आकाशवाणी हो जानेपर समझानेका मूल्य बहुत घट जाता है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'इसमें बात यह है कि सरकार लक्ष्मणजीका पूरा हृद्‌गतभाव जानना चाहते थे और सभ्यताका नियम भी नहीं है कि किसीकी बातको पूरा न सुनकर बीचमें ही काट दे और लक्ष्मणजीकी बात समाप्त होनेपर जो आकाशवाणी हुई, उसे लक्ष्मणजी, सीताजी और रामजी तीनोंने सुनी। लक्ष्मणजी तो संकुचित हुए कि अवश्य मेरे समझनेमें भूल हुई, मालूम होता है कि भरतजी युद्धके लिये नहीं आ रहे हैं। तब तो जो कुछ मैंने कहा, बड़ा अनुचित कहा। आकाशवाणीके आरम्भ हो जानेसे रामजीको कहनेका अवसर नहीं मिला। अब आकाशवाणी समाप्त हो गयी, और लक्ष्मणजी संकुचित हो गये, तो उनके सङ्कोचको मिटानेके लिये श्रीरामजानकीजीने उनका सादर सम्मान किया और कहा कि तुम्हारा कहना अनुचित नहीं था, नीतिके अनुकूल था। सामान्य लोक-व्यवहारमें ऐसा ही होता है। जैसा कहते हो, पर भरतजीकी बात ही दूसरी है।'

नोट—२ *'तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा'''* में यथासंख्यसे अर्थ होगा कि प्रताप कौन कह सकता है और प्रभाव कौन जान सके।

नोट—३ अनुचित शब्द प्रथम देकर जनाया कि आप अनुचित कह रहे हैं और उचित भी होता तो भी समझ-बूझकर करे तभी लोग भला कहते हैं। *'उतावला सो बावला धीरा सो गँभीरा'* लोकोक्ति है। (पु० रा० कु०) श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि—'यहाँ उचित कार्य क्या है तथा अनुचित क्या है? लक्ष्मणजी स्वामीके लिये युद्ध करनेको तैयार हैं यह उचित है। अर्थात् सभी वचन जो उन्होंने कहे उचित हैं। बिना समझे जो भरतजीसे लड़नेको तैयार हैं, यही थोड़ा अनुचित है। इसीलिये आकाशवाणी हुई कि इस कामको करनेके पूर्व सोच लीजिये। इसीपर उदाहरणरूपसे शिक्षा दी जा रही है कि *'सहसा करि पाछे पछिताहीं'* ऐसे लोग बुद्धिमान् नहीं कहे जाते। देवताओंका वचन प्रायः उपदेश मार्गमें नहीं है, वह केवल लक्ष्मणजीके रोकनेके लिये। क्योंकि यदि वे रोके न जायँगे तो भरतजीपर सहसा वार कर देंगे। जैसे सिंह हाथीपर और बाज लवापर अपनी ही ओरसे शीघ्र वार कर बैठते हैं वही हाल होगा। अतः देवताओंने रोका है और शिक्षा दी है। भाव यह है कि यदि आप सहसा ऐसा करेंगे तो पीछे पछतावेंगे अतएव जाँच कर लीजिये।

* पर ऐसा अनुमान भी तो निराधार कल्पना ही है। विशेष, २२६ (३) का नोट ३ देखिये। (प० प० प्र०)

मिलान कीजिये—'**गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन। अतिरभसकृता वा कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥**' इति (नीतिशतक) अर्थात् गुणवान् हो अथवा गुणहीन कार्य हो, पण्डितको पहले ही उसका फल विचार लेना चाहिये। बड़े वेगसे बिना विचारे काम करनेसे विपत्तिपर्यन्त हृदयको बाणकी तरह दाह होता है। इसके अनुसार अनुचित-उचित दोनों कार्यके विशेषण हैं। कोष्ठकान्तर्गत अर्थमें उचित-अनुचित समझानेके साथ हैं।

सुनि सुरबचन लषन सकुचानें। राम सीय सादर सनमानें॥५॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमदु भाई॥६॥
जो अँचवत मातहिं नृप* तेई। नाहिन साधुसभा जेहि सेई॥७॥
सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा॥८॥
दो०—भरतहि होइ न राजमदु बिधिहरिहरपद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥२३१॥

शब्दार्थ—'**अँचवत**' (सं० 'आचमन'। आचवना)= पान करना, पीना, यथा—'*सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहिं प्रेमकी। परिहरि चारिउ मास जो अचवै जल स्वातिको॥*' '*मातहिं*' उन्मत्त, बावले, मस्त हो जाते हैं। '*सेई*'=सेवन किया, सत्संग किया, उनमें बैठे उठे। '**काँजी**'=एक प्रकारका खट्टा रस जो कई प्रकारसे बनाया जाता है और जिसमें अचार और बड़े आदि भी पड़ते हैं। जैसे, राई पीसकर पानीमें घोलकर नमक, जीरा, सोंठ, सोडा, पिपरामूल आदि मिलाकर रख दें। ६-७ दिनमें काँजी बन जाती है। दहीके पानीमें नमक मिलाके रखनेसे भी बनता है। मट्ठेके धोवनको भी काँजी कहते हैं। छाँछ, मट्ठा।—'**मरिचं जीरकं शुण्ठीं ग्रन्थी सुरी। मर्दितं वारि संयोज्य धृत्वा भवति कांजिके** (धन्वन्तरि) (प्र० सं०)। '**काँचिकं काँजिकं वीरं कुल्माषाभियुतं तथा। अवन्ति सोमं धान्याम्लमारनालं महारसम्। सौवीरं च सुवीराम्लं तथा शुक्लं तुषोदकम्।** (धन्वन्तरिः। अमरव्याख्यासुधा) अधकच्चे (पके) भिगोये धान्यादिसे बनाया हुआ आम्ल (acid)।—(प० प० प्र०)। तीन दिनके बाद जो मट्ठा बहुत खट्टा हो जाता है उसे काँजी कहते हैं। (नं० प०) 'बिनसाना'= विनष्ट होना, बिगड़ जाना, यथा—'*जगमें घरकी फूट बुरी। घरकी फूटहिं सो बिनसाई सुबरन लंकपुरी*'—(हरिश्चन्द्र)।

अर्थ—देववाणी सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये। श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीने उनका आदरपूर्वक सम्मान किया॥५॥ (श्रीरामजी बोले—) हे तात! तुमने उत्तम नीति कही है। हे भाई! राज्यमद सब (मदोंसे) कठिन मद है॥६॥ जिसे (पर उसे) पीकर वे ही राजा मतवाले हो जाते हैं जिन्होंने साधुसमाज-(सत्पुरुषोंकी सभा-) का सेवन नहीं किया॥७॥ हे लक्ष्मण! सुनो, भरतसरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें कहीं न सुना है और न देखा ही॥८॥ ब्रह्मा-विष्णु-महेशका पद भी पाकर भरतको राजमद नहीं होनेका (तो अयोध्याका राज्य पाकर कब होगा?)। क्या कभी भी काँजीके कणसे क्षीरसमुद्र बिगड़ सकता है? कदापि नहीं॥ २३१॥

☞ 'प्रजासत्तात्मक राज्यमें भी एक समय ऐसा आता है जब घटनाचक्रके कारण शासनकी शक्तियाँ किसी एक नेताके हाथमें केन्द्रस्थ हो जाती हैं। ऐसे अवसरोंपर उनको धरोहर समझकर उनका सदुपयोग करना और आवश्यकता न रहनेपर उनसे किनारा खींच लेना किसी माईके लालका ही काम होता है।' (ना० प्र०), यही कारण है कि मन्त्रियोंने '*तब तस करबि बहोर*' कहा। और श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि '*कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमद भाई॥*'

नोट—१ '*सुनि सुरबचन लषन सकुचानें।…*' इति।—संकोच यह कि हमसे अवश्य अनुचित हो गया।

* नृप मातहिं—(भ० दा०)।

बिना सोचे-समझे क्षणमात्रमें भरतकी भक्ति, भाईपन, प्रेम आदिकी अवहेलना कर दी, यह बड़ा भारी भागवतापराध हुआ, इसे तो प्रभु भी क्षमा न करेंगे। नाहक इतना कुपित हुए। यह ग्लानि आते ही प्रभुसे न सहन हो सका और श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंने उनका संकोच मिटानेके लिये भक्तवत्सल वाणीसे उनका सम्मान किया, पास बिठाया और कहा कि तुमने सेवाधर्मके अनुकूल ही बात की, इत्यादि। (बै०) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि लक्ष्मणजी लज्जासे ऐसे संकुचित हो गये मानो अपने शरीरके अङ्गोंमें समा गये हों—'**लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया।**' (२। ९७। १९)

नोट—२ '*कही तात तुम्ह नीति सुहाई।*…' मद कई प्रकारके हैं। कोई छः कोई आठ कहते हैं। यथा—'**जातिविद्यामहत्त्वं च रूपं यौवनमेव च। यत्नेन परित्यज्य पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥**', पुनः '**विद्यातपोवित्तवपुः कुले वयः।**' पुनः '*कुल जाती बय रूप अरु ज्ञान ध्यान मद होइ। विद्या धन अष्टम मदहि कहत राजमद कोइ॥*'—(वि० टी०)

नोट—३ '*नाहिन साधुसभा जेहि सेई*' अर्थात् जो साधुसमाजका सेवन अर्थात् सत्संग करते हैं वे उन्मत्त नहीं होते, वे तो सुशील होते हैं, अपने स्वरूपको पहचानते हैं, और जानते हैं कि यह राज्य तो एक धरोहर है, हमारा नहीं है, इत्यादि। साधुसंगका फल विनयमें यों कहा है—'*जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गए॥*'—(१३६)। जो सत्पुरुषोंका सङ्ग नहीं करते, वे ही मदान्ध होते हैं, यथा—'*सील कि मिलि बिनु बुध सेवकाई।*' (७। ९०) '*काहू सुमति कि खल सँग जामी।*'

नोट—४ '*सुनहु लषन भल भरत सरीसा।*…' भाव कि भरतके समान भरत ही हैं। पुनः इससे भरतजीका भलप्पन एकपादविभूतिसे विलक्षण (परे) सूचित किया।—(रा० प्र०)।

नोट—५ (क) '*बिधिहरिहरपद पाइ*' अर्थात् उत्पत्ति-पालन-संसारका अधिकार एक इन्हींको दे दिया जाय तो भी मद न हो। यहाँ भरतको क्षीरसिन्धु और विधि-हरि-हर तीनोंकी मिलाकर जो एक पदवी बनी उसको काँजीके एक कणके (=सींक जलमें डुबोकर छिड़कनेसे जो छोटा-सा बूँद बनता है) बराबर कहा। यहाँ पूर्वार्द्ध उपमेय और उत्तरार्ध वक्रोक्तिद्वारा उपमान है। दृष्टान्त अलंकार है। कोई कहते हैं कि वाल्मीकीयमें भी कहा है '**विकृतिं नैव गच्छन्ति सङ्गदोषेण साधवः। क्षीरोदधेस्तु नाद्यापि महतां विकृतिः कुतः॥**' अर्थात् महात्मा पुरुषोंको विकार नहीं होता। पर हमको यह श्लोक मिला नहीं। (ख) लक्ष्मणजीने कहा था '*तेऊ आजु राजपद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥*' उसीका यह दृष्टान्तालंकारमें उत्तर है। आशय यह है कि नदी-तालाब मर्यादा छोड़ देते हैं, समुद्र मर्यादा नहीं तोड़ता। भरतजी समुद्रवत् हैं—(पं०)। पुनः, जैसे क्षीरसिन्धु स्वच्छ स्निग्ध वैसे ही '*भरत हृदय सियराम निवासू*'—(वै०)।

श्रीलक्ष्मणजी

श्रीलक्ष्मणजीके यत्र-तत्र योग्य स्थानोंपर क्रोधाभिनिवेशके कारण कुछ आलोचनाओंमें एक प्रकारका दोष, धब्बा या न्यूनताका आरोपण उनपर किया गया है अतएव उनके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेकी मुझे आवश्यकता हुई है। मेरी समझमें वे इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त या रहित हैं। बाबू शिवनन्दनसहाय (आरा) एवं (कल्याणमें दिये हुए) ब्रह्मचारी पं० प्रभुदत्तशर्माके विचारोंसे मैं सहमत हूँ।

'ये मौनी भ्राताभक्त, स्नेहपूर्ण संयमी, संन्यासी भ्रातृस्नेहमें आत्मविस्मृत और संसारविस्मृत हो रहे थे। इनका स्नेह सर्वत्र मौनरूपसे प्रकट होता गया है। अपने स्नेहमय वाक्योंसे इन्होंने उसे कभी प्रकट नहीं किया है। ये रामचन्द्रजीके छायास्वरूप थे, रामजीके बिना इन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती थी।' वे उनके बिना जीवित नहीं रह सकते थे। ये तो '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' के पक्षपाती, बल्कि यों कहिये कि स्वरूप ही थे। 'ये तो सर्वतोभावेन रघुनाथजीकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे। इनका अपना जीवन होता, तो कोई छिद्र इनमें कहा भी जा सकता, इन्होंने तो जीवनको अपना समझा ही नहीं।' संसारमात्रमें आपका और कोई सम्बन्धी था ही नहीं।

'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अंतरजामी॥'

ये आपके वचन हैं। आप सबका दर्शन प्रभुमें ही करते हैं। इस अनन्यताकी जय, जय, जय!!! आप अनन्य सेवक हैं।

भरतजी और लक्ष्मणजी दोनों ही आदर्श भ्रातृभक्त और स्वामिभक्त हैं। स्वार्थत्याग और आत्मत्याग दोनोंमें ही पल्ले दर्जेका था। किसीको भी एक-दूसरेसे न्यून कदापि नहीं कहा जा सकता। बाबू शिवनन्दनसहायजी लिखते हैं कि 'एक कोई सुन्दर अलभ्य मधुर फलके समान है और एक नित्यके पुष्टिकर खाद्य पदार्थके तुल्य है। जब हम एकको पिता-प्रदत्त राजको परित्यागकर तपस्वीरूप धारण किये, नन्दीग्राममें रामके ध्यानमें मग्न देखते हैं और दूसरेको निज इच्छासे वनवास स्वीकारकर धनुष-बाण लिये योगीवेषमें भ्राताके पीछे वन-वन घूमते उनके दुःख और कष्टके भागी होते, अपनी जानको हथेलीपर रखे उनके कार्यसाधनके लिये प्रबल शत्रुओंके साथ लड़ते, निरीक्षण करते हैं, तो हमारी बुद्धि चकरा जाती है।''''ऐसी उज्ज्वल तथा प्रबल भ्रातृभक्ति होनेसे ही कविने भरतके विषयमें कहा है—

'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥'

और राम-लक्ष्मण ऐसे *'एक जान दो कालिब'* हो गये हैं कि सीता तथा भरतके बिना रामकी कल्पना हो सके तो हो, परंतु लक्ष्मणके बिना राम कहाँ?''''ये उनके नित्यके कार्यमें मिल गये हैं।

लक्ष्मणजी तो सेवकधर्म ही मानो मूर्तिमान् थे। भरतजीके *'सब तें सेवक धरम कठोरा'* वाले धर्मका निर्वाह इन्हींको करते हम रामायणभरमें पा रहे हैं। स्वामीका आज्ञाकारी तो इनके समान दूसरा हुआ ही नहीं। स्वामीकी आज्ञामें उन्होंने उसी नीतिका पालन किया जिसको भरतजीने निरूपण किया है—*'उचित कि अनुचित किए बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'* हम उनको वे-वे कठिन काम करते पा रहे हैं, जिसके करनेमें और भ्राता संकुचित हो गये थे। हम उन्हें वनमें तुच्छातुच्छ काम करते देखते हैं। प्रभुकी आज्ञापालन और प्रेममें हम उन्हें शास्त्रोंके नियमोंकी भी अवहेलना करते देखते हैं। शूर्पणखाकी नाक-कान काटते देखते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

आप रामजीके ऐसे सच्चे और उत्कट भक्त थे कि नामको भी रामजीका अपमान या अपराध किसीके द्वारा क्षणमात्र नहीं सहन कर सकते थे। 'अपना अपराध भले ही सह लें पर रामापराध क्षमा करनेको तैयार न थे।' इसीसे सीताजीके मर्मवाक्य तो उन्होंने सह लिये परंतु सुमन्तसे दशरथजीके विषयमें कटु वचन कहनेमें उन्हें किञ्चित् संकोच न हुआ। अपने पौरुष और बलपर, रामप्रतापके भरोसे, इनको पूरा भरोसा था। चौदहों लोकोंमें ये किसीको न डरते थे, स्वामिकार्य करनेमें विधिहरिहरका भी मुकाबिला करनेको तैयार रहते। जनकद्वारा धनुषयज्ञमें अपमान न सह सके। उनको भी खरी-खरी सुना दी। रामजीका अपमान परशुरामने आते ही जो किया, बस, इन्होंने वहीं उन्हें आड़े हाथों लिया और धर दबाया। पिताको जा-बेजा कह डाला! सुग्रीवपर गजबका क्रोध किया। फिर ऐसे आज्ञाकारी थे और रामजीका ऐसा डर और सङ्कोच मानते थे कि इशारा भर हुआ कि आप कटुवाणी और और सब छोड़ शान्त देख पड़ते थे।

ये सब बातें केवल सच्चे अनन्य प्रेम और अनन्य स्वामिभक्तिके लक्षण हैं। ये सब कार्य रामजीकी सेवा और उनके सुखके लिये ही उन्होंने किये। शर्माजीने ठीक लिखा है कि 'लक्ष्मणजी ऐसे सच्चे सेवक ही इस दुःखमय जगत्को स्वर्गसे भी अधिक आनन्दमय बना लेते हैं। सेवाका सच्चा रहस्य आपने ही जाना है; यही कारण है कि प्रभुके चित्तको परेशान न देख सके। उनका अनुमान गलत ही सही, पर इस समझके अनुकूल 'सच्चे सेवक' का धर्म क्या यह नहीं था जो उन्होंने किया? अपने स्वामीके सुखके लिये वे पिता, भाई सभीके शत्रु बन सकते थे। ऐसे सच्चे सेवक आप धन्य हैं! धन्य हैं!! थोड़ेसे सन्देहके

ऊपर ही भरतजीको, अपने सहोदर भ्राता शत्रुघ्नजीको, सारी सेना गरज कि सभीको मार डालने, सभीकी हत्या सिरपर लेनेको तैयार हो गये, क्यों? उसी सच्चे प्रेमके कारण, उसी सच्चे सेवक-धर्मके कारण। इसीसे वे प्रसन्न हैं—

'आजु रामसेवक जस लेऊँ'

अर्थात् अभीतक मुझसे ऐसी कोई सेवा नहीं हुई जिससे सेवाधर्ममें मैं प्रमाण माना जाऊँ, उसका आचार्य समझा जाऊँ, उसका आदर्श बनूँ; आज ही ऐसा अवसर आपसे ही आ प्राप्त हुआ है।

पिताने वनवास दिया तब मैं चूका—(वाल्मीकीयमें भरत, शत्रुघ्नका यह सोचना पाया जाता है कि लक्ष्मणजीने क्यों न बलपूर्वक रामजीको राज्यपर बिठाया और पिताको इस अनुचित कार्यसे रोका।) खैर! आज मालूम हुआ कि इतने लोग रामविरोधी हैं। आजका-सा अवसर फिर हाथ नहीं लगनेका। बस, अब आज अपना सेवाधर्म जगत्‌को दिखा देना है।

शर्माजीका अनुमान ठीक है कि 'लक्ष्मणजीकी भक्ति बखान करनेकी सामर्थ्य किसमें है।…लक्ष्मण न होते तो सीताजी हरी जातीं या नहीं? रावण मारा जाता या नहीं? सीताजी रावणके यहाँसे मिलतीं कि नहीं? रामजी वनसे लौटकर अवधपुरी आते या नहीं? इन प्रश्नोंका उत्तर सर्वांशमें दिया ही नहीं जा सकता। उत्तर देना तो अलग रहा, हम अयोध्यासे आगेकी कल्पना नहीं कर सकते।

सच्चा सेवक-स्वामी-सम्बन्ध दिखलानेके लिये ही मेरी समझमें परशुराम-गर्वहरण, राम-लक्ष्मण-संवाद, सुग्रीवपर क्रोध, भरतपर क्रोध इत्यादि चरित्र किये गये हैं। दोनोंका आदर्श प्रेम है, दोनों अपने-अपने ढंगके आप ही मिसाल (उदाहरण, उपमा) हैं, दूसरी कोई उपमा नहीं। इनमें मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों दो तरहके प्रेमी हैं जिनका वर्णन श्रीमुखसे प्रभुने किया है।

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुतसम दास अमानी॥' (आ० ४३)

पुनः, *'कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥*
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥' (उ० ८७)

श्रीलक्ष्मणजी ऐसे ही भक्त थे जैसा स्वयं उन्होंने रामवियोगके भयसे घबराकर कहा है—

'मन क्रम बचन चरनरति होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥'

और, *'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ'*

तभी तो श्रीरामजीको उन्हें साथ लेना ही उचित जान पड़ा। यद्यपि भरतजीसे वे कहते हैं कि ***'मन प्रसन्न करि सकुचि तजि कहहु करउँ सोइ आजु'*** (२६४) तो भी साथ ही इसके पहले ही यह भी कह दिया है—

'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जी के॥
राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥'

यहाँ तो पितावचन मेटनेमें सोच है पर दूसरी ओर ***'पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू'*** है। भरतजीने साथ जानेका प्रस्ताव किया, पर उनको साथ लेना न स्वीकार किया। एक ज्ञानियोंकी तरह अलग बैठे ध्यान कर सकता है तो दूसरा साक्षात् अहर्निशके संयोगहीमें जीता रह सकता है, दूसरी तरह नहीं, उसे अलग रहकर ध्यान, तपस्या आदि पसंद नहीं, एक ज्ञानी भक्तोंका आचार्य है तो दूसरा उपासकोंका आचार्य है।

यही तो उन कारणोंसे कुछ कारण जान पड़ते हैं कि जो सहस्रों, लाखों वर्षोंके बीत जानेपर भी आज दिन श्रीलक्ष्मण-श्रीरामसीता त्रयमूर्ति जहाँ देखिये तहाँ आचार्योंने एक साथ ही रखे हैं। तीनोंका पूजन एक साथ होता है। यही तीन सर्वत्र भारतवर्षमें मन्दिरोंमें श्रीरामोपासकोंके यहाँ पूजे जाते हैं।

तिमिर तरुन तरनिहि* मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहि मिलई॥ १॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥ २॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥ ३॥
लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहि भरत समाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**मगन**=लीन, तन्मय, डूबकर, समाकर। मगना क्रिया है, केवल पद्यमें आता है और प्रान्तिक है। **गिलई**=निगल जाय, समूचा खा ले। **गोपद**=गौके खुर (के समान)। गौके चलनेपर जो नर्म जमीनमें छोटा-सा गड्ढा बन जाता है उसके जलको 'गोपद जल' कहते हैं। **घटजोनी**=अगस्त्यजी। (१।३।३) *'बालमीक नारद घट जोनी', 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।'* (१।२५६।७) देखिये। गिलना (सं० गिरण)=बिना दाँतसे तोड़े गलेसे उतार जाना। **तरुन**=जवान, पूर्णावस्थाका अर्थात् मध्याह्नका, दोपहरका। **तरनि**=सूर्य। तरणिके साथ तरुणका अर्थ 'दोपहर' होता है। आना (सं० आणि=मर्यादा)=शपथ।

अर्थ—अन्धकार चाहे दोपहरके सूर्यको भले ही निगल जाय, आकाश जिसमें सब समा जाते हैं, वह चाहे मेघमें तन्मय होकर मिल जाय (वा, आकाशमें मेघोंको मार्ग न मिले—वीर, दीनजी)॥ १॥ (जो समुद्रको तीन आचमनमें पी गये वे) अगस्त्यजी चाहे गौके खुर इतने जलमें डूब जायँ, चाहे पृथ्वी अपनी स्वाभाविक क्षमा त्याग दे॥ २॥ मच्छड़की फूँकसे चाहे सुमेरु भले ही उड़ जाय, परंतु हे भाई! भरतको राजमद नहीं हो सकता॥ ३॥ हे लक्ष्मण! तुम्हारी शपथ और पिताकी सौगन्ध (खाकर कहता हूँ)। भरतके समान पवित्र उत्तम भाई (संसारमें) नहीं है॥ ४॥

नोट—१ *'गगनु मगन मकु मेघहि मिलई'* इति। वीरकवि—'राजापुरकी पोथीमें शब्दोंका अलगाव, '**मग न**' ऐसा नहीं है। 'मगन' और 'मग न' मानना पाठकोंकी इच्छापर निर्भर है। परन्तु यदि कविजीको ऐसा (आकाश चाहे बादलोंसे मिल जाय) कहना होता तो विशेषता यह थी कि लघु तारामें आकाशका मिलना कहते। यहाँ तो उनके कहनेका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि चाहे इतने बड़े अनन्त आकाशमें मेघोंको चलनेका रास्ता न मिले।' यहाँ असम्भवसे पुष्ट अर्थान्तरन्यास है।—(पाँड़ेजी भी यही भाव लिखते हैं)। प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'मगन' होना और 'मिलना' समानार्थक शब्द हैं। अत: 'मग न' पाठ ही उचित है।

'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई…'

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) जहाँ सूर्य होगा वहाँ अन्धकार रह ही नहीं सकता, वह तो सूर्यके उदयके भयहीसे चल देता है—*'उदय तासु तिभुवन तम भागा।'* (१।२५६) दोनोंका एक ठौर होना ही असम्भव है—(*'होंहि कि रबि रजनी इक ठाम।'*) उसपर भी यह कि वह सूर्यको निगल जाय, अपने पेटमें रख ले यह तो महा असम्भव है। भुशुण्डिजीने भी कहा है—*'अंधकारु बरु रबिहि नसावहि'* अर्थात् सूर्य अन्धकारका नाश करता है—*'उयेउ भानु बिनु स्रम तम नासा।'* (१। २३९।४), सो न होकर अन्धकार सूर्यका नाश कर दे, ऐसा आश्चर्य भले ही हो जाय। (ख) दूसरा दृष्टान्त आकाश और मेघका देते हैं। आकाशकी थाह नहीं, यथा—*'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥'* (७।९१।५) इसके अन्तर्हित ही अनेक ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, कहीं एक कोनेमें, मेघ पड़े रहते हैं, आकाशके भीतर मेघ सदा डूबे रहते हैं सो ऐसा बृहत् आकाश चाहे मेघोंके भीतर डूब जाय, उसमें मिल जाय, लीन हो जाय या आकाश सबको अवकाश देता है सो उसमें चाहे मेघोंको रास्ता न मिले। (ग)—तीसरा कुम्भज ऋषि और गोपदजलका दृष्टान्त है। जो अञ्जलिमें समुद्रको लेकर पी जाय, उसको सोख ले, वह ही गोखुर इतने जलमें डूब जाय यह असम्भव ही तो है! *'कुंभज'* पद बड़ा मजेदार है, डूबनेकी सम्भावनाके साथ घटसे उत्पन्न ऐसा नाम बड़ा ही युक्त है। (घ)—चौथा दृष्टान्त पृथ्वीकी क्षमाका है। पृथ्वीका नाम ही

* रा० प०—'तरनि'

है 'सर्वसहा' 'क्षमा'। कितना ही अपमान इसका प्राणी करते हैं पर यह अपनी क्षमा नहीं छोड़ती, सब सहती है। क्षमा इसका सहज स्वभाव है। अपना वह सहज स्वभाव छोड़ दे। यहाँ 'बरुक' पद देकर 'मकु' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। क्षोणीके साथ क्षमा पद अति उत्तम है। (ङ) पाँचवाँ दृष्टान्त सुमेरु या मेरु (पर्वत) और मच्छड़का है। पर्वत अचल है जिसे प्रचण्ड पवनका वेग भी नहीं उड़ा सकता और सुमेरु कई लक्ष योजनका लम्बा, ऊँचा—इन्हें चाहे मच्छड़ फूँकसे उड़ा दे। यहाँ तरुण सूर्य, आकाश, अगस्त्यजी, पृथ्वी और मेरु भरतकी उपमाएँ हैं और अंधकार, मेघ, गोपद, उद्वेग, मसकफूँक राजमदकी।

टिप्पणी—२ (क) ये पाँच दृष्टान्त पाँच तत्त्वके हैं। *'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा॥'*—इन पाँचोंमेंसे यहाँ पृथ्वी (छोनी), जल, गगन और समीर (फूँक स्वासा पवन ही है) स्पष्ट है। रहा पावक-तत्त्व सो 'तरुण तरणि' से जनाया, सूर्यमें अग्नि वा तेजस गुण है, यथा—*'गगन गये रबि निकट उड़ाई॥ तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि नियरावा॥ जरे पंख अति तेज अपारा'*—(कि० २८)। तेज अग्निका गुण है। (ख)—इन सबके दृष्टान्त देकर जनाया कि इनसे सृष्टिकी रचना होती है, ये सृष्टिके मूल हैं। ये अपनी मर्यादाको नहीं छोड़नेके; छोड़ें तो सृष्टि ही न रह जाय पर ये भी चाहे मर्यादा छोड़ दें; किंतु भरतजी धर्मकी मर्यादाको कदापि नहीं छोड़नेके। (ग)—पुनः, इन दृष्टान्तोंको देकर श्रीभरतजीको पञ्चतत्त्वोंसे परे अप्राकृत जनाया। (घ)—*'बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा'* कहा था। अतः विधि-प्रपंचकी जो जड़ है, मूल है—पञ्चतत्त्व, उसके ही दृष्टान्त दिये। पञ्चतत्त्वकी समानता नहीं दी उनके समान वही कहा, किंतु यह दिखाया कि भरत तो इन सबसे बड़े हैं, परे हैं।

टिप्पणी—३ पुनः, क्षीरसमुद्रकी उपमा दी थी क्योंकि जैसे वह प्राकृत नहीं, वैसे ही ये प्राकृत नहीं। क्षीरसिन्धुको मिलाकर यहाँतक छः उदाहरण हुए। विचार कीजिये कविका कौशल। देखिये लक्ष्मणजीने राजमदके छः उदाहरण दिये हैं—*'जग बौराइ राजपद पाये॥'* यह कहकर 'शशि, नहुष, वेन, सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु—इन छः को गिनाकर कहा *'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू।'* (२२८।१) प्रभुने भी उसी जोड़का उत्तर दिया। *'भरतहि होइ न राजमदु।'* (२३१) से उठाकर छः ही उदाहरण देकर अन्तमें कहते हैं कि *'होइ न नृपमदु भरतहि भाई'*। यहाँ *'भरतहि होइ न राजमदु'* का ही सम्पुट दिया है। लक्ष्मणजीके वचनोंमें *'जग बौराइ'* का सम्पुट है; *'केहि न'* से भी जगत्‌का ही तात्पर्य है। प्रभु कहते हैं कि तुमने जो कहा सो ठीक है, जगत्‌भर उन्मत्त हो जाय, तो हो जाय संदेह नहीं, पर इनको राजमद नहीं होनेका—इनको जगत्‌से विलक्षण ही देखो।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि—(क) इन पाँच दृष्टान्तोंसे श्रीभरतजीमें मोह, काम, क्रोध, लोभ और मदका निरास किया है। (ख) *'तिमिर तरुन तरनिहि'''* 'से मोहका निराकरण किया। **तिमिर=मोह**। तरणि=ज्ञान। श्रीकौसल्याजीने भी कहा है'''*'भये ज्ञान बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥'* (१६९।३) मोह ज्ञानको हर लेता है, सुग्रीवजीने कहा ही है—*'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।'* (४। १९। ३) इस दृष्टान्तसे जनाया कि दूसरोंमें यह भले ही घट जाय पर भरतका ज्ञान राज्यमदरूपी विषयसे नष्ट न होगा। कल्पान्तमें अन्धकार सूर्यको निगलता है। (ग) *'गगनु मगन मकु मेघहि मिलई'* से जनाया कि बादलोंको आकाशमें स्थान भले ही न मिले पर भरतजीके हृदयाकाशसे रामप्रेमको रामधनश्यामको हटानेका सामर्थ्य राज्यपदमें नहीं है। (घ) *'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी'*—यह दृष्टान्त लक्ष्मणजीके *'सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू'* को लक्ष्य करके कहा है। भाव कि राज्यमदमें बड़े-बड़े राजा डूब गये, यह सत्य है। रामभक्तोंको भवसागर गोपदजलके समान हो जाता है, तब भक्तशिरोमणि भरत राज्यपदसागर पान करनेपर भी कभी मत्त नहीं हो सकते। अगस्त्यजीको क्रोध हुआ है, उन्होंने लोगोंको शाप दिया है, तथा—*'रिषि अगस्ति कर साप भवानी। राच्छस भएउ रहा मुनि ज्ञानी॥'* अतः इस दृष्टान्तसे क्रोधका निरास किया। (ङ) *'सहज क्षमा'''* से बताया कि तुम्हारे इतना क्रोध करनेपर भी भरत तुमको क्षमा ही करेंगे। अक्षमाका जन्म लोभसे होता है। अतः इस दृष्टान्तसे लोभका निरास किया। (च) *'मसक फूँक'''* 'से मदका निरास किया, कारण कि मदोन्मत्त ही अपनी शक्तिके बाहरका कार्य करने लगता है। अतः इसके साथ ही कहा कि *'होइ न नृपमद भरतहिं*

भाई।' इस दृष्टान्तसे सिद्धान्त कहा और पूर्व दृष्टान्तोंमें मद न होनेके कारण परम्परा बतायी। मोह, काम, क्रोध और लोभ न होनेपर भी कभी-कभी मद (अहंकार) होता है। अत: इस शंकाके निरासके लिये भरतजीके हृदयाकाशमें श्रीरामचन्द्रजीका निवास होना सूचित किया, यथा—*'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥', 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मतसर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा।'* इत्यादि।

नोट—२ *'लषन तुम्हार सपथ पितु आना'* इति।—राजमदका उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि *'कुटिल कुबंधु'* उसपर कहते हैं कि *'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।'* ये कुटिल नहीं किन्तु परम पवित्र हृदय हैं। कुबन्धु नहीं हैं, सुबन्धु हैं। इसपर विश्वास दिलानेके लिये पहले लक्ष्मणजीकी शपथ खायी; क्योंकि इससे अधिक विश्वास दूसरेकी शपथमें नहीं हो सकता था। फिर पिताकी भी कसम खायी। यद्यपि शपथ और आन दोनों पर्यायवाची हैं तो भी यहाँ सूक्ष्म भेद यह कह सकते हैं कि शपथसे जनाया कि यदि यह असत्य हो तो हमें तुम्हारे वधका-सा पाप हो और पिताकी 'आन' कही, अर्थात् पिता सत्यसन्ध ऐसे कि उसके निर्वाहके लिये हमारा भी त्याग किया; यदि मैं झूठ कहता हूँ तो उनकी सत्यकी 'आन' मर्यादाके नाश करनेका पाप मुझे हो। केवटके प्रसङ्गमें भी ये ही दोनों शब्द हैं, यथा—*'मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ॥'* (१००) वही भाव यहाँ है कि इसमें किञ्चित् सन्देह न करो, सब सत्य ही कहता हूँ।

नोट—३ *'होइ न नृपमद भरतहि भाई'*— यहाँतक तो यह बताया कि भरतजीको राज्य पानेपर भी मद नहीं हो सकता। यह नहीं कहते कि उन्होंने राज्य ग्रहण नहीं किया। माधुर्यमें इसकी जानकारी कैसे कहते? *'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू'* और *'तेऊ आज राजपद पाई'* का यहाँतक उत्तर हुआ। आगे श्रीभरतजीका स्वभाव और राज्यमद न होनेका कारण कहते हैं। *'सुचि सुबंधु'* कहकर जनाया कि वे हमलोगोंके विषयमें मनसे भी कुछ विपरीताचरण नहीं कर सकते, तुम्हें उनके प्रति ऐसी शंका न करनी चाहिये और न ऐसे वचन कहने थे—**'अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत्।'** (वाल्मी० २। ९७। १३) **'ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद्विशङ्कसे॥'** (१४) **'नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः॥'** (१५) वाल्मीकीयका यह सब भाव 'शुचि' शब्दसे जना दिया। *'सुबंधु नहिं भरत समाना'* से सूचित किया कि वे भ्रातृवत्सल हैं और हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। अतएव वे मेरे प्रेमपरवश तथा मेरे वनगमनके कारण शोकसे व्याकुल हो मुझे देखने आ रहे हैं।—**'मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः। मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥'** (वाल्मी०। २। ९८। ९) **'स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः। द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथा गतः॥'** (११) का भाव इस शब्दमें आ गया। 'शुचि' तथा आगेके *'भरत हंस रबिबंस तड़ागा'* इस वचनसे **'कुलधर्ममनुस्मरन्'** का भाव जना दिया अर्थात् वे सूर्यवंशका जो धर्म है उसपर दृढ़ हैं, उस धर्मके पालनार्थ यहाँ आ रहे हैं।

सगुनु षीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥५॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥६॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥७॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥८॥

शब्दार्थ—**सगुनु**=सुन्दर या शुभ गुण। **षीरु** (क्षीर)=दूध। विभाग करना=भाग या हिस्से कर देना, यह बताना कि किसका कितना हिस्सा है, अलग करना, पृथक्-पृथक् कर देना।

अर्थ—हे तात! शुभ गुणरूपी दूध और अवगुणरूपी जलको मिलाकर विधाता संसारको रचता है॥५॥ भरतरूपी हंसने सूर्यवंशरूपी तालाबमें जन्म लेकर गुण और दोषका विभाग कर दिया, अर्थात् दोनोंको अलग-

अलग करके दिखा दिया॥ ६॥ गुणरूपी दूधको ग्रहण और अवगुणरूपी जलको त्यागकर उन्होंने अपने यशसे जगत्‌में उजाला कर दिया॥ ७॥ भरतजीका गुण, शील और स्वभाव कहते-कहते रघुनाथजी प्रेमसमुद्रमें मग्न हो गये॥ ८॥

☞'स' उपसर्गका प्रयोग शब्दोंके आरम्भमें कुछ विशिष्ट अर्थ उत्पन्न करनेके लिये होता है। गोस्वामीजीने भी इसका प्रयोग प्रायः इन सभी अर्थोंमें किया है। जैसे—बहुव्रीहि समासमें 'सह' के अर्थमें, यथा—सपरिजन, सजीव, सचराचर, सप्रेम। 'सु' के स्थानमें, यथा—'सरस' 'सगुन'। इसे पाठक याद रखें, इससे बहुत सहायता मिलेगी। २—'प्रेम' का पेम, 'द्रोह' का 'दोह', 'प्रयाग' का 'पयाग' ऐसा स्थल-स्थलपर प्रयोग है। पंडितोंने न समझकर पाठ बदल दिये हैं, और अर्थमें भी गड़बड़ी कर दी हैं।

नोट—१ *'सगुनु षीरु अवगुन जलु ताता।""'* इति। ठीक ऐसा ही बा० ५ (४)—६ में कहा है—*'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥"'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥'* (६)

वहाँ विधाताका गुणदोष मिलाना नहीं कहा, किंतु विधिप्रपंचमें गुणदोष मिले हुए हैं यह कहा है। वैसा ही अर्थ यहाँ भी लेना ठीक होगा नहीं तो पूर्वापरमें विरोध आता है। हंसमें ही यह विवेक है कि दूध-पानी मिला हो तो वह दूध-दूध पी लेता है, जलको छोड़ देता है। इसीसे सन्तोंको और भरतको हंसकी उपमा दी। विशेष बालकाण्ड देखिये।

नोट—२ *'हंस'* श्लिष्ट पद है। हंसपक्षी जो मानससरमें रहते हैं और हंसका अर्थ सूर्य भी है; यथा—*'हंसबंस दसरथ जनक॥'* (१६१) यहाँ दोनों ही अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है। गुण-अवगुणका विभाग करनेमें हंसरूप हैं और अपने उज्ज्वल यशसे जगत्‌को प्रकाशित करनेमें सूर्यरूप हैं। (पां०)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) *'जनमि'* का भाव कि कोई शिक्षा नहीं देता है कि गुण-अवगुण इस प्रकार अलग करो, जन्ममात्रसे ही हंस दूध और जलको अलग कर देता है वैसे ही भरत स्वभावसे ही ऐसे हैं। अनन्तकालसे सृष्टि गुणदोषयुक्त चली आ रही है, उसको भरतने अलग किया। ईश्वरतत्त्व भगवद्भक्ति जीवको कर्तव्य है, सप्तद्वीपका राज्य मिल जाय तो वह भी तुच्छ है, यह उन्होंने जगत्‌को दिखाया। [(ख) *'निजजस जगत कीन्हि उजियारी'* इति। *'कीन्हि उजियारी'* से जनाया कि इनका यश चन्द्र है जिसकी चन्द्रिकासे जगत् प्रकाशमान है। मिलान कीजिये। भरद्वाजवाक्यसे *'नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥ उदित सदा अथइहि कबहू ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥ कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥'* (२०८। १—३)"" *कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा॥'* (२०९। १)]

टिप्पणी—२ *'पेम पयोधि मगन रघुराऊ।'* इति।—पूर्व इन्द्रने कहा है कि भरत प्रेमपयोधि हैं, यथा—*'राम सकोची प्रेम बस भरत सुपेम पयोधि॥'* (२१७) उसी प्रेमसमुद्रमें रामजी मग्न हो गये।

टिप्पणी—३ 'गुण, शील और स्वभाव' तीन बातें कहीं। *'सब ते कठिन राजमद भाई। जो अँचवत मातहिं नृप तेई'* से यह प्रसंग प्रारम्भ होकर *'निज जस जगत""'* तक आया। इसमेंसे *'साधु सभा जेहि सेई।'* और *'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना'* में शील कहा, क्योंकि शीलकी प्राप्ति बुद्धिमानों, सज्जनोंके सङ्गसे होती है। यथा—*'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।'* (७। ९०। ६) इन्होंने साधुसङ्ग किया, इसीसे शुचि और सुबन्धु हैं, कुटिलता नहीं है। गुण, यथा—*'गहि गुन पय तजि""'*, हंसके-से विवेकी। स्वभाव तो पूरा प्रसङ्गभर है। *'सुनहु लषन भल भरत सरीसा'* में *'भल'* स्वभाव जनाता है, इसीकी व्याख्या आगे की गयी। पुनः, *'जनमि कीन्ह'* से सहज स्वभाव कहा।

दो०—सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपानिकेतु॥ २३२॥

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ १॥
कबिकुल अगम भरत गुनगाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥ २॥
लषन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुखु लहेउ न जाइ बखानी॥ ३॥

शब्दार्थ—धुर (सं० धुर्)=गाड़ीका धुरा, भार, बोझ।

अर्थ—श्रीरघुवरकी वाणी सुनकर और भरतजीपर उनका प्रेम देखकर सब देवता उनकी प्रशंसा करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी तरह कृपालु प्रभु एवं समर्थ और कृपाधाम और कौन होगा?॥ २३२॥ यदि संसारमें श्रीभरतजीका जन्म न होता तो पृथ्वीपर समस्त धर्मोंकी धुरीको कौन धारण करता?॥ १॥ कविकुल (कविसमुदाय) के लिये भी अगम्य भरतजीके गुणोंकी कथा, हे रघुनाथजी! आपके सिवा और कौन जाने?॥ २॥ देवताओंकी वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजीने अतीव सुख पाया जो वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३॥

अर्थ—१ *'को प्रभु कृपानिकेत'* का भाव कि कैकेयीकृत अपराधका किञ्चित् भी स्मरण न किया। कौन है अर्थात् कोई भी नहीं है।

पु० रा० कु०—*'सकल धरम धुर धरनि धरत को'* इति।—(क) दूसरा अर्थ—समस्त धर्मोंका भाररूपी धरणीको (वा, सब धर्मोंके भार और पृथ्वीको) कौन धारण करता? भाव कि भरतहीने धारण किया, दूसरेकी सामर्थ्य न थी। *'सकल धरम'*—वर्णाश्रमधर्म, भ्रातृधर्म, भगवत्धर्म, राजधर्म, भागवतधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म इत्यादि। पृथ्वीके धारण और भरण-पोषण करनेका प्रमाण—*'भरत भूमि रह राउरि राखी।'* (२६४। १) *'बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥'* (१। १९७) धर्म धारण, यथा—*'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाखि जाइ नहिं बरनी॥'* (१७१। १) [(ख) रा० प्र०—यहाँ सकल धर्मरूप बोझ प्रपत्ति है।]

☞ वन्दनाप्रकरण बालकाण्डमें भरतजीके दो गुण विशेष लिखे, एक धर्म दूसरा प्रेम। यथा—*'जासु नेम ब्रत जाइ न बरना'* नेम व्रत धर्म हैं, सो इनमें भरतजी निपुण हैं। और दूसरा, यथा—*'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* यह प्रेम है, सो भी वर्णन नहीं हो सकता। वे ही दोनों, धर्म और प्रेम, इस प्रसङ्गमें लिखे गये हैं। *'सकल धरमधुर…'* यह धर्म है और आगे चलकर प्रेमका उल्लेख करते हैं कि *'अचर सचर चर अचर करत को।'* (२३८। ८)

(ग) *'को जानइ तुम्ह बिनु…'*—भाव कि लक्ष्मणजी ही जो शेषके नियन्ता एवं कवि हैं, नहीं जानते तो दूसरा कौन जान सके? [नोट-कविकुलसे शुक्राचार्य ऋषि, ब्रह्मा, बृहस्पति, शेष, वाल्मीकि, उशना कवि आदि सबको सूचित कर दिया] भागवतके गुण भगवान् ही जानते हैं।

नोट—*'लषन राम सिय सुनि…'* इति।—यहाँ देखिये लक्ष्मणजीके हृदयकी स्वच्छता, निर्मलता। आजकलके भाई तो जल ही उठते। निर्मत्सर हैं। उनको बुरा समझकर क्या कह डाला था पर उसके विरुद्ध उनके गुण सुनकर परम प्रसन्न हुए। इसीसे कविने इनका नाम प्रथम दिया। इनको सुख भी सबसे अधिक हुआ ही चाहे कि हम बड़े अनर्थसे बचे। क्याका क्या हम समझे थे। गुण तो पहलेसे भी जानते थे पर 'रामविरोध' का ख्याल बीचमें आकर बाधक हो गया था, अब वे विचार हृदयपरसे धुल गये।

इहाँ भरतु सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए॥ ४॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु गुर सचिव नियोगा॥ ५॥
चले भरत जहँ सिय रघुराई। साथ निषादनाथु लघु भाई॥ ६॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥ ७॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥ ८॥

शब्दार्थ—**सहाए**=सेना, सहायता करनेवाले। **राखि**=ठहराकर, निवास देकर, डेरा कराके, रोककर। **नियोगा**=आज्ञा।

अर्थ—यहाँ भरतजीने सब परिकरसमेत पवित्र मन्दाकिनीमें स्नान किया॥ ४॥ नदीके समीप सब लोगोंको ठहरा, माता, गुरु और मन्त्रियोंकी आज्ञा माँगकर, निषादराज और छोटे भाईको साथ लेकर भरतजी वहाँको चले जहाँ श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी हैं॥ ५-६॥ अपनी माताकी करनी समझकर सकुचते हैं और मनमें अनेक कुतर्क करते हैं॥ ७॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी मेरा नाम सुनकर स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह न उठकर चले जायँ॥ ८॥

नोट—१ *'इहाँ भरतु सब सहित सहाए'''* 'इति। (क)—भरतजी प्रसंग लिखते-लिखते बीचमें राम-लक्ष्मण-सीताका प्रसंग आ गया तब कवि वहाँकी कथा लिखने लगे। उसे समाप्त करके अब फिर यहाँ अपने पूर्व प्रसंगको उठाते हैं। *'जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते॥'* (२२६। २) पर प्रसंग छोड़ा था। उसीको फिर *'इहाँ भरतु सब सहित सहाए'''* ' से उठाया। बीचमें *'उहाँ राम रजनी अवसेषा'* से *'अति सुख लहेउ न जाइ बखानी।'* २२६(३) से २३३ (३) तक, 'उहाँ' और 'इहाँके' बीचका प्रसंग कहा। (ख)—इसीसे यह भी जनाया कि जिस समय भरतजी पिछले वासस्थानसे चले और मन्दाकिनी-तटपर पहुँचे, इतनी ही देरमें ये सब बातें हो गयीं जो बीचमें कही गयीं।

नोट—२ *'साथ निषादनाथु लघु भाई।'* निषादराजको प्रथम कहा, क्योंकि ये रास्तोंके ज्ञाता हैं। इन्हींको साथ लिया। दोनों भाइयोंको जाना चाहिये ही। वे सदा साथ रहते हैं जैसे लक्ष्मणजी रामजीके साथ। तीसरे लक्ष्मणजीके भाईके साथ जानकर हमपर कृपा करेंगे। और निषादराज रामजीका सखा है, उसे देखकर प्रभु प्रसन्न होंगे, हमपर कृपा करेंगे, हमारे अपराध क्षमा करेंगे। इस तरह जाकर पहले पता लगा लें तब औरोंको भी ले जायँगे, सबको भटकना और व्यर्थ कष्ट न पड़ेगा; सब थके हैं, सुस्ता भी लेंगे। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि गुरु आदिको इससे न ले गये कि रघुनाथजी उन्हींके सत्कारमें लग जायँगे, हमसे भली प्रकार बातें न कर सकेंगे। (प्र० सं०)

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि भरतजीने सब लोगोंको मन्दाकिनीके तटपर छोड़ा और शत्रुघ्न तथा निषादराजके साथ सरकारके पास चले; इसका कारण यह है कि भरतजी अपनेको अपराधी मानते हैं, क्षमापनके लिये सरकारके पास जाते हैं। शरणागत होनेमें किसीको सिफारशके लिये साथ ले जानेका नियम नहीं है, यथा—*'आवै सभय सरन तकि मोही।'* जयन्तको भी नारदजीने अकेले ही शरणमें भेजा। सिफारशके लिये स्वयं उसके साथ नहीं गये। इसीलिये भरतजी भी अकेले गये। माता, गुरु, सचिव किसीको साथ नहीं लिया। छोटे भाईको साथ लेनेका कारण यह था कि वे भी अपराधमें शरीक समझे जा सकते थे। क्योंकि उनका स्वामि-सेवककी भाँति दृढ़ प्रेम था और सदा भरतजीके साथ थे। अतः अपराध क्षमापनके लिये उन्हें भी शरण जाना था। निषादराजका जाना न जानेके बराबर था, क्योंकि वह रास्ता दिखानेके लिये साथ था, न तो वह भरतजीकी सिफारशके लिये गया था और न रामजीको मनाने गया था। वह रामसखा था, रामजीके लिये लक्ष्मणजीकी भाँति भरतलालसे लड़नेको तैयार था। भरतजीसे मिलनेके बाद जब रामजी गुरुजीसे मिलने आये, तब रामजीके साथ होकर उनके साथ गुरुजीको दण्ड प्रणाम करता है, यथा—*'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥'* और गुरुजी भी उसे लक्ष्मणकी भाँति रामजीके वनका सङ्गी समझकर राम-लक्ष्मणसे मिलनेके बाद उसीसे मिलते हैं। अतः भरतलालके लिये सबको मन्दाकिनीके तीरपर ही छोड़ देनेका यथेष्ट कारण है।

नोट—३ *'समुझि मातु करतब'''* '—देखिये, जिनके गुण श्रीरामजी अपने मुखारविन्दसे कहते हैं उन भरतजीके हृदयको देखिये, उनके विचारोंको देखिये, उनकी दीनता, उनका कार्पण्य देखिये—वे क्या कहते हैं? क्या सोचते हैं? मैं कैसे प्रभुको मुख दिखाऊँगा?

श्रीभरतजी ऐसे सज्जन पुरुष थे कि गोस्वामीजी लिखते हैं कि *'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर*

सुनहिं। सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भवरसबिरति॥' इससे विदित है कि वे सर्वगुणसम्पन्न थे। उनके कर्त्तव्यका अनुसरण करनेसे मनुष्य कैसा चरित्रवान् हो सकता है। वे त्याग और भ्रातृस्नेहकी तो सीमा ही थे। श्रीरघुनाथजी स्वयं उनके विषयमें कहते हैं *'सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महुँ सुना न दीसा॥'* यद्यपि श्रीभरतजीका सम्मत कैकेयीजीके विचारमें, उनके वरदानमें नहीं था और न उनको कभी स्वप्नमें भी यह काङ्क्षा उत्पन्न हुई थी कि मैं राजा होऊँ, तथापि मातृकर्त्तव्यद्वारा उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। जो महानुभाव (श्रीभरतजी) श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें कहते थे कि *'सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥'* इत्यादि वे ही आज *'समुझि मातु…'* इत्यादि विचारोंसे अपने चित्तमें द्विविधाको स्थान दे रहे हैं।

भक्त शिरोमणि श्रीभरतजीका माताके कर्तव्यद्वारा द्विविधामें पड़ना लिखकर कवि हमें उत्तमोत्तम उपदेश दे रहे हैं। वे बता रहे हैं कि एकके सच्चरितद्वारा समाजका अधिक उपकार तथा दुश्चरित होनेसे परम हानि होती है। देशकी भलाई तथा आदर भी जनसमुदायकी क्रियापर निर्भर है तथा हर्ष और विषाद प्राप्त होनेका भी यही कारण है। यदि जनसमूहमें कोई पुरुष उत्तम कार्य करे तो समाजको प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा इसके प्रतिकूल हो तो उससे समाज अधोगतिको पहुँचता है।

यदि कैकेयीजीके कर्तव्यसे श्रीरामचन्द्रजीको वनवास नहीं करना पड़ता तो श्रीभरतजीको यह द्विविधा प्राप्त नहीं होती। वैसे ही यदि श्रीरामजी भी पितावचन मान राज्य तज्ज भातृस्नेहको चरितार्थकर, सस्त्रीक, वनगमन नहीं करते तो *'अघ अवगुन छमि आदरहिं'* आदि बातोंसे श्रीभरतजी चित्तको स्थिर न कर सकते।

उपर्युक्त विषयोंसे स्पष्ट है कि समाजका अच्छा या बुरा प्रभाव जनसाधारणपर अवश्य पड़ता है। अतएव चरित्रवान् होना तथा उदाहरण बनना आवश्यक है।

दो०—मातु मतें महुँ मानि मोहि जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥ २३३॥
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥ १॥
मोरें सरन रामहिं* की पनहीं। राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं॥ २॥
जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नबीना॥ ३॥

शब्दार्थ—'सरन'—शरणके तीन अर्थ हैं। शरण (पनाह, आश्रय, रक्षा) में, शरणागत (शरणकी लाज, शरण हूँ) और, शरण्य अर्थात् शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेवाला, रक्षक जैसे यहाँ। आश्रयका स्थान।

अर्थ—माताके मत (सलाह)में मानकर मुझे जो कुछ भी वे कहें सो थोड़ा ही है। (अथवा) अपने शील और स्वभावकी ओर देखकर मेरे पापों और अवगुणोंको क्षमा करके आदर करें (तो अपनी ओरसे समझकर ऐसा करेंगे)॥ २३३॥ चाहे मलिन मन जानकर त्याग दें, चाहे अपना सेवक मानकर मेरा सम्मान करें (दोनोंमेंसे जो रुचे सो करें पर)॥ १॥ मेरे लिये तो श्रीरामजीकी जूतियाँ ही शरण हैं, रामजी सुस्वामी हैं और दोष तो सब दासका ही है॥ २॥ जगत्में चातक और मछली ही यशके पात्र हैं जो अपने नेम और प्रेममें निपुण और नित्य नये हैं॥ ३॥

नोट—१ *'जौं परिहरहिं'* इति। *'जौं'* शब्दका अर्थ प्रायः 'जो, यदि, अगर' ही होता है और इसी अर्थमें इस ग्रन्थमें भी आया है पर यहाँ 'चाहे' अर्थ हो तो ठीक जँचता है पर इसके उदाहरण अभी कोई याद नहीं आते। पं० रामकुमारजी यों अन्वय करते हैं—*'मलिन मन जानके जो परिहरें तो परिहरें, सेवक मानि जो… तो सन्मानें।'* और एक खर्रेमें यों अन्वय किया है—'जो परिहरेंगे तो मलिन मन जानकर परिहरेंगे, और यदि सम्मान करेंगे तो सेवक मानकर करेंगे।

*'रामकी पनहीं'।

नोट—२ दोहेमें दो बातें कहीं—माताकी सलाहमें जानें अथवा अपनी ओर समझें, तो पहलेमें जो कुछ कहें अनुचित नहीं होगा और दूसरेमें क्षमा करके आदर दें तो यह उनके योग्य ही है; उसी बातके सिलसिलेमें प्रथम अर्धाली है। माताके मतमें जाननेसे मुझे मलिनमन जानेंगे और त्याग देंगे। क्योंकि पापीका संसर्गी भी पापी माना गया है—(*'जे पातक उपपातक अहहीं।'* (१६७।७) तथा (१३२।६) *'जो सब पातक'*' में देखिये। अपनी ओर समझेंगे तो मुझे दास जानेंगे और आदर करेंगे। *'जौं परिहरहिं'* अर्थात् त्याग करना प्रथम कहा क्योंकि डर यही है कि माताके मतमें न मान लें। जब प्रभुका स्वभाव याद आता है तब यह सोच दूर होकर ढारस आता है तब दूसरी बात कहते हैं। क्योंकि *'आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को।'* (गी० ५। ७) दोनों हालतोंमें हमारे लिये दूसरी शरण नहीं। श्रीरामजीकी जूतीहीकी शरण हूँ। वे जो चाहें करें, क्योंकि *'राम सुस्वामि दोष सब जनहीं।'* दोष तो सदा दासका होता ही है; पर श्रीरामजी सुन्दर उत्तम स्वामी हैं, दूसरा वैसा कोई स्वामी ही नहीं। मिलान कीजिये—*'जो तुम त्यागौं राम हौं नहिं त्यागौं, परिहरि पाय काहि अनुरागौं। सुखद सुप्रभु तुमसों जग माहीं, श्रवन नयन मन गोचर नाहीं। हौं जड़ जीव ईस रघुराया, तुम्ह मायापति हौं बस माया। हौं तो कुजाचक स्वामि सुदाता, हौं कपूत तुम्ह पितु हित माता। जौं पै कहुँ कोउ बूझत बातो, तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो।'* (वि० १७७), *'भयेहूँ उदास राम मेरे आस राबरी, आरत स्वारथी सब कहै बात बावरी। जीवन को दानि धनु कहा ताहि चाहिए, पेम नेमके निबाहे चातक सराहिए। मीन तें न लाभ लेस पानी पुन्य पीन को। जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को। बड़ेही की ओट बलि बचि आए छोटे हैं, चलत खरे के संग जहाँ तहाँ खोटे हैं। एही दरबार भलो दाहिनेहू बाम को, मोको सुभदायक भरोसो रामनाम को। कहत नसानी होइहै हिये नाथ नीकी है, जानत कृपानिधि तुलसी के जी की है।'* (१७८), *'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन। काको सहज सुभाउ सेवक बस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन। जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन। परम कृपालु भक्त चिंतामनि बिरद पुनीत पतित जन तारन॥'* (वि० २०६) *'दोष सब जनहीं'*—*'सबतें सेवक धरम कठोरा।'* (२०३। ७) देखिये। *'सरन रामहि की पनहीं'*—मिलान कीजिये—*'सुमिरि रामपद पंकज पनही।'* (१९१।४) से।

नोट—३ यहाँ 'रामकी पनहींकी शरण' कहनेमें एक खूबी और है। जूती दोनों हालतमें सेवकके सिरपर ही रहती है। उसका निरादर है तो सिरपर पड़ती है और आदर होता है तो सेवक स्वयं उसे आदरपूर्वक सिरपर रख लेता है। अत: यहाँ भी कहा कि निरादर हो चाहे आदर, हमारे तो सदा शिरोधार्य हैं।

पु० रा० कु०—*'जग जस भाजन चातक मीना।'*' भाव कि इनमेंसे एक—(क) पक्षी है, दूसरा जलचर। इनका-सा भी नेम-प्रेम हममें नहीं है। नेम होता तो स्वातिविन्दु रामरूपको छोड़ ननिहाल क्यों जाते और प्रेम होता तो वनगमन सुनकर प्राण क्यों न छूट जाते; जैसे राजाने छोड़ दिये। (ख)—मछली निज प्रेममें प्रवीण है, चातक निज नेममें प्रवीण है। यथा—*'नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारो मीनही को।'* (गी० ५। ७) दोनोंका अपना प्रेम-नेम नवीन है अर्थात् नित्य नया-सा बना रहता है; ऐसा नहीं कि निरादरसे घट जाय, जल साथ छोड़े तो मछली तो साथ न छोड़ेगी, साथ ही प्राण पठावेगी, मेघ वज्र गिरावेंगे पर यह रटनसे बाज न आवेगा, इत्यादि। अत: वे दोनों नेम-प्रेममें यशके पात्र हैं, मेरा न तो नेम निभा और न प्रेम ही। मैं इनमें अपयशका ही पात्र हूँ। भाव कि मुझसे सब बिगड़ा, बना कुछ नहीं—*'मोहि सोच मोते सब बिधि नसानि।'* (चातक आदिके प्रसंगपर बहुत लिखा जा चुका है।) [वीर—चातक मेघ छोड़ किसीसे माँगता नहीं, मैंने सबसे वर माँगा।] (ग)—भरतजीमें नेम-प्रेम दोनों हैं, यथा—*'असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥' भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी॥*'....'रामप्रेमभाजन....' *'नित नव राम प्रेमपन पीना'* (३२३-५) एवं *'रामराम रघुपति जपत नयन श्रवत जलजात'* यह नवीन प्रेम है, अवधिकी समाप्तिपरकी यह दशा है। यहाँ कार्पण्य शरणागति है।

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥४॥
फेरति मनहुँ* मातुकृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥५॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥६॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाह जल अलि गति जैसी॥७॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥८॥

शब्दार्थ—'धोरी'=बैल। वह तीसरा बैल जो गाड़ीमें अधिक बोझा होनेपर सबसे आगे लगाया जाता है। बा० २ (४) देखिये। उताइल=(सं० उत्+त्वरा) 'जल्दी, शीघ्र, तेज। जल अलि=पानीका भँवर। यह एक काला कीड़ा होता है जो पानीपर तैरा करता है, इसकी बनावट खटमलकी-सी होती है पर आकारमें उससे बहुत बड़ा होता है। वह प्रायः एक ही ओर घूम-घूमकर तैरता है और जल-प्रवाहके विरुद्ध यह बड़ी तेजीसे तैर सकता है। इसे पैरौवा, भौंतुआ भी कहते हैं। यथा—'*कहा भयो जो मन मिलि केलि कालहि कियो भौंतुवा मोर को हौं।*' (वि० २२९) (श० सा०) वीरकविजी लिखते हैं कि जलभ्रमर वह भी कहलाता है जो बहते हुए जलमें छोटा, बड़ा, गोलाकार उत्पन्न होता है। दोनोंकी चाल एक-सी होती है, कभी एक स्थलपर रुक जाते, कभी तेजीसे आगे चलते।

अर्थ—श्रीभरतजी इस प्रकार मनमें विचारते हुए रास्ता चले जाते हैं, संकोच (माताके सम्बन्धसे अपराधका) और प्रेम (रामस्वभाव समझने) से सारा शरीर शिथिल है॥४॥ माताकी की हुई खोटाई मनको (पीछे) लौटाती है, पर वे भक्ति और धैर्यरूपी धोरीके बलसे आगे चलते हैं॥५॥† जब श्रीरघुनाथजीका स्वभाव याद पड़ता है तब मार्गमें पैर जल्दी-जल्दी (तेज) पड़ने (बढ़ने) लगते हैं॥६॥ उस समयकी भरतजीकी दशा कैसी है जैसे जलके बहाव (धारा) में जलभ्रमरकी चाल होती है॥७॥ श्रीभरतजीका सोच और प्रेम देखकर उस समय निषाद विदेह हो गया अर्थात् देहकी सुध-बुध भूल गया॥८॥

* 'जल प्रबाह जल अलि गति जैसी' *

नोट—१ यहाँ भरतजीकी दशाकी समता जलभ्रमरकी चालसे दी है। जलभ्रमर भी धाराका झोंका पाकर पीछे हट जाता है, कभी रुक जाता है, फिर चलने लगता है और कभी प्रवाहके सम्मुख तेजीसे चलता है। वही दशाएँ यहाँ भरतजीकी दिखायी हैं। श्रीनंगे परमहंसजी भी जलभ्रमरकी तीन चालें कुछ भेदसे मानते हैं—'प्रथम तो जलमें भँवरा चलता है। जब जलका वेग होता है तो भँवरेको जल चलनेसे रोकता है, परंतु भँवर चलनेमें कुशल है, वह कुशलताके बलसे चलता है, रुकता नहीं और जब कभी अपने स्वभावपर आ जाता है तब तो उछाल मारके चलता है।'

'*फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी*'—'माताकी करनी सोचना प्रवाहका झोंका है जो पीछे हटाता है एवं रोक देता है।' अपराध समझकर संकोच हो जाता है कि कैसे मुँह दिखावें। भक्तिका बल-भरोसा पाकर चलने लगते हैं—'*चलत भगति बल धीरज धोरी।*' और जब रामजीका स्वभाव याद करते हैं तब तो कदम तेज पड़ने लगते हैं। धारका झोंका हटा कि भ्रमर तेज हुआ—'*जब समुझत*…'। भक्ति बल, यथा—

'*भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी॥*' (७। ८६)
'*क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥*
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥
'*देखि दोष कबहूँ न उर आने।*' (२९९। २—४) (यह स्वभाव है। पुनः, स्वभाव, यथा—'*जन अवगुन*

---

* पाठान्तर 'मनहिं'। अर्थ एक ही है।

† अर्थ—(१) धीरजरूपी भारके धारण करनेवाले भरतजी भक्तिके बलसे बढ़ते हैं अर्थात् धीरज धरकर आगे चलते हैं—(खर्रा)। (२) पर भक्तिका बल उन्हें धीरजसे इस बोझका उठानेवाला बना आगे चलता है—(वीर)।

प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥' (७। १), *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥'''*(५। ४८)।, *'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं॥'* (५। ४४) कुछ लोगोंने पीछे हटना और तेज चलना दो ही दशाएँ मानी हैं। पाँड़ेजीका मत भी यही है कि तीन चरणोंमें तीन दशाएँ दिखायीं!

नोट—२ निषाद और विदेहके भाव पहिले आ चुके हैं—*'देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥'* (११५। ४) देखिये। दोनों अर्धालियाँ लगभग एक ही हैं। वहाँ *'सील'* है, यहाँ उसकी जगह *'सोच'* है, केवल इतना ही अन्तर है। वहाँ भरतजीका शील देखा कि *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'* ऐसे मुझ निषादसे *'मिलत पुलक परिपूरित गाता।'* यहाँ सोच है कि कहीं मेरा आगमन सुनकर प्रभु अन्यत्र न चले जायँ, इत्यादि। *'देखि भरत कर सोच सनेहू'* यह *'समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥'* (२३३। ७) से *'तब पथ परत उताइल पाऊ।'* (२३४। ६) तक कहा। कुतर्क करना ही सोच है और 'प्रेम' तो सभी चौपाइयोंमें भरा है। 'देखि' से सूचित किया कि उनकी दशासे ही उनके आन्तरिक शोचको उसने जान लिया।

दो०—लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषादु।
मिटिहि सोच होइहि हरषु पुनि परिनाम बिषादु॥२३४॥
सेवक बचन सत्य सब जानें। आश्रम निकट जाइ निअरानें॥१॥
भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥२॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी*॥३॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहि भरत गति तेहि अनुहारी॥४॥

शब्दार्थ—*समाज*=श्रेणी, पंक्ति, समुदाय, सिलसिला। अथवा, शैलका समाज, अनेक रंगके पर्वत, झरने, शिखर आदि—(पु० रा० कु०)। *ईति*=खेतीको हानि पहुँचानेवाले उपद्रव। ये ६ प्रकारके हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियोंकी अधिकता और दूसरे राजाकी देशपर चढ़ायी। कोई-कोई सात कहते हैं। यथा—'**अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥**' उत्तरार्ध ऐसा भी है—'**स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥**' '**भीति**'= भय, डर। **सुदेस**= अच्छा सुन्दर देश, उपयुक्त स्थान, सुखी मुल्क। **मारी**= वबाई बीमारी, जैसे प्लेग, हैजा, आदि। **सुनाज**=उत्तम भोजन, यथा—*'तुलसी निहारि कपि भालु किलकत किलकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की'।* सुराज (सुराज्य)= वह राज्य या शासन जिसमें सुख-शान्ति विराजती हो। उत्तम और अच्छे राज्यका राजा।

अर्थ—मङ्गल सगुन होने लगे, उन्हें सुनकर सगुन विचारकर निषाद कहता है कि शोक मिटेगा, हर्ष होगा, (पर) अन्तमें दुःख होगा॥२३४॥ भरतजीने सेवकके सब वचन सत्य समझे। वे आश्रमके पास पहुँचे॥१॥ वन और पर्वतोंकी श्रेणी देखकर भरतजीको ऐसा आनन्द हुआ मानो भूखा सुन्दर अन्न (उत्तम भोजन) पाकर प्रसन्न हो रहा हो॥२॥ मानो ईतिके भयसे भारी दुःखी हुई और तीनों तापों और भारी क्रूर ग्रहदशाओंसे (ग्रसित) और महामारीसे अत्यन्त सतायी हुई प्रजा अच्छे और उत्तम राज्यके सुन्दर देशमें पहुँचकर सुखी हो, (ठीक) उसी प्रकारकी दशाएँ भरतजीकी हो रही हैं॥ ३-४॥

नोट—१ (क) निषाद पथप्रदर्शक है। वह भरतके शोच और प्रेमको देख जब विदेह हो गया तो रास्ता कौन बतावे? यह देख प्रकृति स्वयं सहायक हुई, चारों ओरसे मङ्गल शकुन होने लगे। यहाँ शरीरकी सुध-बुध नहीं है, इससे शकुन ऐसे हुए कि उन्हें होश आ जाय। कुछ विशिष्ट पक्षियोंकी बोली शुभ मानी

* भारी-पाठान्तर है=भाषण, क्रूर, प्रबल। कठिन।

जाती है, वे शकुन-पक्षी हरि-इच्छासे बोलने लगे और वे शुभसूचक स्थानोंमें बैठे दिखायी देने लगे। यह बात '**सुनि**' शब्द देकर कविने सूचित की है। बोली सुनकर निषादराज होशमें आ गये, सावधान हो गये और शकुनका विचार करने लगे। शृङ्गवेरपुरमें दिखा आये हैं कि यह एवम् और भी निषाद शकुन-विचारमें कुशल हैं। (ख) पांडेजी कहते हैं कि यह कनसुई सगुन कहलाता है, यथा—'*लेत फिरत कनसुई सगुन सुभ बूझत गनक बुलाइ कै। सुनि अनुकूल मुदित मन मानहुँ धरत धीरजहिं धाई कै।*' (ग)—'**लगे होन**' और '**सुनि**' दोनों पद देकर एक तो यह जनाया ही कि पशु-पक्षीके माङ्गलिक शब्द सुनायी दिये पर साथ ही यह भी जनाया है कि और भी शकुन हुए जिनका दर्शन भी शुभ है। बोलियाँ सुनीं, दिशा आदि देखे, इत्यादि। (घ) 'परिणाम विषाद' अर्थात् रामजी अभी लौटेंगे नहीं।

नोट—२ '*सेवक बचन सत्य सब जाने*' इति। '*सेवक*' अर्थात् श्रीरामजीका भक्त वा दास है। एवं सेवकका अर्थ है केवट, यथा—'**कैवर्तो दासधीवरः**' '**इत्यमरः**', अर्थात् केवटका वचन है और केवट शकुनिये होते हैं। अतएव सगुनका विचार सत्य माना। यहाँ '**सेवक**' पद दोनों भावोंको प्रकट करता है। (पु० रा० कु०) निषादने तीन विचार कहे वे तीनों सत्य हुए। '*मिटी मलिन मन कलपित सूला।*' (२६७। २), '*मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू।*' (२६८। १) और ये '*सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥*' (२४२। ६) '*मिटिहिं सोच*' के उदाहरण हैं। दूसरा विचार है '*होइहि हरषु*'। '*भरतहिं भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥ मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।*' (**नाथ भयेउ सुख साथ गये को**)।' (३०७। ३—६) और '*भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियाराम रहे तें।*' (३१। ६। ८) ये इस दूसरे विचारकी सत्यताके प्रमाण हैं। शकुनका अन्तिम फल '*परिणाम बिषादू*' शब्दोंमें कहा है। ये चित्रकूटसे बिदा होते समय तथा उसके पश्चात् चरितार्थ हुए हैं यथा—'*मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। रामबिरह सब साज बिहालू॥*' (३२२। १)॥' '*लषन रामसिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥*' (३२६। २) इत्यादि।

नोट—३ '*भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित*''' इति। (क)—जबसे अयोध्याजीमें अनर्थ प्रारम्भ हुआ तभीसे भरतजी दुःखित हो रहे हैं। अयोध्यामें आकर दुःख और बढ़ गया। अबतक दुःख बहुत रहा। आज रामवनशैल समाज देखकर प्रसन्न हुए, दुःख जाता रहा। (ख) कैसा सुख हुआ जैसे भूखेको उत्तम भोजनसे, भाव कि भूखमें चना-चबेना सड़ा-गला जो मिल जाय वही बड़ा अच्छा लगता है तो जब उत्तम पदार्थ भोजनके मिलेंगे तो न जाने कितना सुख होता होगा। यहाँ भरत क्षुधित हैं, यथा—'*यहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती।*' (२११। १), '*निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।*' (२५२) वनशैल-समाजका दर्शन '*सुनाज*' है। (ग) 'वन—शैल—समाजा' के दो प्रकारके अर्थ हैं।

* 'ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।''अनुहारी' *

१—राम-राज्यमें भरतजीको पहुँचनेपर जो दशा आनन्दकी प्राप्त हो रही है वह यहाँ उत्प्रेक्षाकी विषय है। उस राज्यके दुःखका अनुमान कीजिये जिसमें छहों ईतियोंने प्रजाके खेतोंको नष्ट कर दिया हो, पेटके लाले पड़ गये हों, प्रजा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों तापोंसे सतायी हो, उसपर भी साढ़ेसाती शनैश्चर आदि क्रूर ग्रहोंने भी आ दबाया हो और महामारी फैली हो। ऐसी दुःखित प्रजा यदि वहाँसे भागकर ऐसे सुन्दर राज्यमें पहुँच जाय जहाँ सुख और शान्ति विराजमान है, ईति, तापत्रय और क्रूरग्रह उस धर्मात्मा राजाके प्रतापसे सिर न उठाते हों, देश भी बड़ा सुन्दर हो तो उसको कैसा सुख होगा इसको अनुमान कीजिये। बस इसी प्रकार भरतके सुखकी दशा है।

२—अब यहाँ देखना है कि ईति, भीति आदि यहाँ क्या हैं?

मुं० रोशनलाल—अयोध्याका राज्य खेती है जो रामराज्याभिषेक होनेकी तैयारीके समय पक गयी थी। फसल सबेरे कटनेको ही तैयार थी कि कैकेयीकी कुमति और कुचालरूपी टिड्डी, तोते आदिने आकर बालियोंको चुग लिया, यही अवधवासियोंके लिये ईति हुई, यथा—'*कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति*

भीति जस पाकत साली॥' (२५३। १)। रा० प्र० ने देवता, सरस्वती और मन्थराकी कुचाल भी इसमें शामिल कर दिया है। और यदि दो वरदानोंको भी ले लें तो पूरी छः की संख्या क्यों न कर लें? श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीनोंका विरह (वनगमनके कारण) त्रिताप है, यथा—*'नाथ बियोग ताप तन ताये।'* (२२६*। ४)। और भारी ग्रह शनैश्चरकी दशा जिसका फल नृपकी मृत्यु हुई—*'अवध साढ़ेसाती तब बोली'।*

श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि 'यहाँ समाजसहित श्रीभरतजीके दुःखके लिये प्रजाका रूपक दिखाया है। यहाँ राजाका मरण अकाल (ईति) है। तीनों मूर्ति श्रीराम-सीता-लक्ष्मणका वनगमन त्रिताप है। माताओंका वैधव्य दुःख भारी ग्रह है। चित्रकूट पर्वतपर पर्णकुटी सुराज है और चित्रकूटका वन सुदेश है।'

पं० रामकुमारजीका मत है कि आपदा, राजमृत्यु और वनगमन त्रिताप हैं, रामराजभंग भारी ग्रह संकटादशा है। अथवा, तीनका वियोग है, उसमें सीतावियोग ईति, रामवियोग त्रिताप और लक्ष्मणवियोग भारी ग्रह।

नोट—१ भरत तीनोंसे पीड़ित हुए हैं—पिताकी मृत्युसे यथा—*'सुनत भरत भये बिबस बिषादा। …परे भूमितल ब्याकुल भारी'।* रामवनगमनसे और माताकी कुटिल करनीसे तो सर्वत्र प्रत्यक्ष है।

नोट—२ यहाँ 'सुराज' कहा, आगे राज्यके अङ्ग कहते हैं।

रामबास बन संपति भ्राजा। सखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥५॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥६॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥७॥
सकल अंग संपंन सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥८॥

शब्दार्थ—'संपंन'=पूर्ण, युक्त, भरापूरा, यथा—*'ससि सम्पन्न सोह महि कैसी'*; कुछ भी कमी नहीं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके निवाससे वनकी सम्पत्ति शोभायमान है मानो अच्छा राजा पाकर प्रजा सुखी है॥५॥ वैराग्य मन्त्री है। ज्ञान राजा है, सुहावना हरा-भरा पवित्र वन पवित्र देश है॥६॥ यम-नियम योद्धा हैं। पर्वत राजधानी है। शान्ति और सुमति पवित्र और सुन्दर रानियाँ हैं†॥७॥ यह उत्तम राजा (राज्यके) सम्पूर्ण अङ्गोंसे भरापूरा है। श्रीरामजीके चरणोंके भरोसे रहनेसे सबके चित्तमें चाव (उत्साह एवं प्रसन्नता) है॥८॥

टिप्पणी—१ यहाँ राज्यका साङ्गरूपक है। राज्यमें खजाना (सम्पत्ति), मन्त्री, राजा, रानी, देश, राजधानी, सुभट और मित्र ये प्रधान अङ्ग चाहिये—। १०५ (२-८) देखिये। इन्हें क्रमसे बताते हैं। वनमें रामवास है, यही सम्पत्ति है जो शोभा दे रही है, राम सम्पत्ति हैं। *'त्रिन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'* ऐसा वैराग्य मन्त्री है। षट्शास्त्र-जन्य निपुण ज्ञान अथवा *'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं'* ऐसा ज्ञान नरेश है। मन्त्रीके बिना राजा किस कामका वैसे ही वैराग्य बिना ज्ञान नहीं, यथा— *'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* इसीसे मन्त्रीको कहकर तब राजाको कहा। सुन्दर वन ही देश है। योद्धा बहुत चाहिये वैसे ही यम और नियम बहुत ‡। देश (मुल्क)

---

* सांख्यशास्त्रके अनुसार दुःख तीन प्रकारके हैं। आध्यात्मिकके अन्तर्गत रोग आदि शारीरिक और क्रोध आदि मानसिक दुःख हैं। आधिभौतिक वह है जो स्थावर, जङ्गम (पशु, पक्षी, सर्प, मच्छड़ आदि) भूतोंके द्वारा हों। आधिदैविक जो प्राकृतिक शक्तियोंद्वारा पहुँचता है; जैसे आँधी, वज्रपात, शीत, ताप आदि। इनको दैहिक, भौतिक और दैविक ताप भी कहते हैं।

† अर्थ—शान्ति सुमति-शुचि-सुन्दर रानी है—(खर्रा)। शान्ति, सुमति और पवित्रता रानियाँ हैं। (नं० प०)

‡ (श० सा०) मनुसंहितामें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकल्कता और अस्तेय पाँच यम कहे हैं पर पारस्कर गृह्यसूत्रमें तथा और भी दो एक ग्रन्थोंमें ५ और कहे हैं, यथा—दया, शान्ति, ध्यान, माधुर्य और यम। यम अष्टाङ्ग-योगमेंसे प्रथम अङ्ग है। पु० रा० कु० १२ यम, १२ नियम कहते हैं। शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इन नियमोंका पालन नियम है। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें १० नियम गिनाये गये हैं—स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, वेदपाठ, इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद। जैनशास्त्रमें गृहस्थधर्मके अन्तर्गत १२ नियम कहे हैं। 'सम जम नियम फूलफल ज्ञाना।' (१। ३७। १४) देखिये।

में एक प्रधान नगर होता है जहाँ राजा रहता है, उसे राजधानी कहते हैं। राजधानी कामदगिरि चित्रकूटका मुख्य पर्वत है। 'रामचरण आश्रित' से मित्र कहा। 'सकल अङ्ग सम्पन्न' अर्थात् प्रधानके अतिरिक्त और भी अङ्ग होते हैं वे सब अङ्ग इसके हैं—यहाँ कुछ कहे जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'राम चरन आश्रित चित चाऊ'* इति। (क)—जैसे कोई राजा बड़े सम्राट् राजाके आश्रित होनेसे बेखटके निर्भय रहता है वैसे ही रामचरणाश्रित होकर विवेक राजा निर्भय है; इसीसे प्रसन्न है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जहाँ केवल विवेक है, श्रीरामचरणका आश्रय नहीं है वहाँ अनेक भय हैं और वहाँ शोभा नहीं रह सकती —*'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥'* वह ज्ञान पार नहीं कर सकता, उसमें नाव डूब जानेका भय है। प्रभुने स्वयं नारदजीसे कहा है—*'यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (आ० ४३) (ख) मानस प्रकरणमें कहा है—*'सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥'* (१३७। १४) वैसे ही यहाँ कहा है। ज्ञान फल है, हरिपदरति उसका रस है। बिना हरिपद प्रेमके ज्ञान शुष्क है। रूखा-सूखा ज्ञान यहाँ नहीं है इसीसे चितमें चाव है।

नोट—उपर्युक्त रूपकका भावविशेष—वैराग्यको मन्त्री कहा क्योंकि यदि समस्त अङ्ग नष्ट हो गये हों किंतु वैराग्य बना रहे तो विवेकीको फिर सब अङ्ग प्राप्त हो सकते हैं। वैराग्य ही विवेकको सन्मार्गमें स्थित रख सकता है, मोहके वश न होने देगा। *'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* (३।१५।८) ऐसा वैराग्य सदा साथ रहे तो विवेकका राज्य सदा बना रहेगा। यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७।८९) विवेक राजाका देश सुहावना वन है। यह कहकर जनाया कि विवेकीके लिये प्रवृत्तिसे अलग रहना उचित है, वनमें निर्जन स्थानोंमें विवेकका राज्य स्थिर रहता है। वहाँ रहकर वह यम-नियम आदिमें बराबर दृढ़ रहे। राजाके पास जब सुन्दर देश और राजधानी होती है तब अनेक सुन्दर स्त्रियाँ रानी बनना चाहती हैं। वैसे ही विवेकी पुरुषके पास वैराग्य, यम-नियमादि होनेपर 'सुमति और शान्ति' रानियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानके सम्पूर्ण अङ्ग सम्पन्न होनेपर भी उसे गिरनेका डर है—*'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'* (७। ११९। १), *'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३।३८) *'सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रकट।'* (७।११५) यदि वह ज्ञानी रामभक्तिमें भी दृढ़ रहे तो श्रीरामजी उसकी रक्षा करते हैं, उसके पास माया फटकने नहीं पाती। यथा—*'राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥'* (७।११६), *'जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (३। ४३) अतः *'राम चरन आश्रित'* कहा, बिना इसके *'करनधार बिनु जिमि जल जानू'* की दशा होती है।

* गोस्वामीजीका मत 'सुराज्य' पर *

गोस्वामीजीका मत सुराज्य-सम्बन्धमें क्या है। यह इस प्रकरणमें उन्होंने कह दिया है। जिसमें प्रजा सुखी हो वही सुराज्य है—*'सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजू', 'पाइ सुराज सुदेस सुखारी।'* प्रजा सुराज्य पाकर बढ़ती है, यथा—*'बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। बढ़इ प्रजा जनु पाइ सुराजा॥'* सुराज्यमें आये दिन दुर्भिक्ष, आये दिन अगणित नये-नये रोग नहीं होते…यह सब रामराज्यमें कविने स्पष्ट दिखाया है। सुराज्यके आदर्शका पूर्ण चरितार्थ रामराज्यमें देखिये, जो इतिहास है, किसी कविकी गढ़ंत नहीं है। होती तो असंख्यों रामायणोंमें, जो भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा प्रणीत हुई हैं, एक-सा चरित्र न गाया जाता। और कोई ऐसा करता ही क्यों? एक गढ़ा हुआ किस्सा दूसरेका लेकर उसीको दूसरा कभी कोई कहेगा? या कभी कहता और कहा है? फिर यदि कल्पित ही कथा होती तो इसी प्रकारकी अनेक कल्पित कथाएँ लिखी जा सकती थीं जिनमें आदर्श सुराज्यका प्रतिपादन होता। होमरने इलियड नामकी कल्पित कहानी लिखी सही, परंतु सुराज्यका

आदर्श न रख सका। रामराज्यके आदर्श सुराज्य होनेकी कल्पना उसके मनमें रामायणकी वस्तु लेनेमें शायद न आ सकी। उसने वस्तु (प्लाट) सुन लिया होगा। रामायण महाकाव्य सुन न पाया होगा।

दो०—जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुर सुख संपदा सुकालु॥ २३५॥
बन प्रदेस मुनिबास घनेरे। जनुपुर नगर गाउँ गन खेरे॥ १॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाजु न जाइ बखाना॥ २॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साजु सराहा॥ ३॥
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥ ४॥

शब्दार्थ—**खगहा**=गैंडा। (खाँग=निकला हुआ पैना दाँत)। चरहिं=घूमते-फिरते, विचरते हैं, यथा-*'दुखमें सुख मान सुखी चरिये।'*

अर्थ—मोहरूपी राजाको सेनासहित जीतकर ज्ञानरूपी राजा नगरमें अकंटक (शत्रुहीन) राज्य कर रहा है जहाँ सुख, सम्पत्ति और सुकाल (सुन्दर समय अकाल दुर्भिक्षरहित) वर्तमान हैं॥ २३५॥ वनरूपी प्रान्तमें जो बहुत-से मुनियोंके आश्रम हैं वे मानों पुरो (शहरों), नगरों (कस्बों), ग्रामों और पुरवोंके समूह हैं॥ १॥ बहुत तरहके रंग-बिरंगके अनेक जातिके बहुत पक्षी-पशु प्रजाका समाज है जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥ २॥ गैंडा, हाथी, सिंह, बाघ, वराह (शूकर), भैंसे और बैलोंका साज (अंग-प्रत्यंगकी बनावट) देखकर सराहते ही बनता है॥ ३॥ ये सब वैर छोड़कर एक साथ जहाँ-तहाँ विचर रहे हैं; यही मानो चतुरंगिनी सेना है॥ ४॥

टिप्पणी १ पु० रा० कु०—*'जीति मोह महिपालु दल'*' इति। (क) यहाँ चित्रकूटका माहात्म्य दिखाया कि मोहादि नाशको प्राप्त होते हैं और विवेकादि बढ़ते हैं। विनय और गीतावली एवं वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है जैसा कि पूर्व श्रीरामजीके वहाँ निवास होनेपर लिखा गया है। दोहा १३२ में देखिये विवेक राजा और मोह महिपालकी लड़ाई प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें है. (ख) *'अकंटक राजु'*—मोह ज्ञानका शत्रु है, वही कंटक था जो निकल गया; इसीसे अकंटक हो गये। (ग) *'सुख संपदा सुकालु'*—सुख ब्रह्मानन्द और सम्पत्ति रामवास है, इसीसे सदा सुन्दर काल है। यथा—*'चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लखन समेत। राम नाम जप जापकहि तुलसी अभिमत देत॥'* (दो० ४), *'रस एक रहित गुन करम काल। सिय राम लखन पालक कृपाल॥'* (वि० २३), *'कामदमनि कामता कल्पतरु सो जुग-जुग जागति जगतीतलु।'* (वि० २४)' इत्यादि। अथवा, सुख और सम्पदाके लिये सुन्दर काल है।

टिप्पणी—२ प्रधान अङ्ग कहे अब जो साधारण अङ्ग बाकी हैं उन्हें कहते हैं।

रा० प्र०—चतुरंगिनी सेनामें रथ, पैदल, हाथी, घोड़े होते हैं। यहाँ रथ गैंडा है क्योंकि इसकी पीठ चौड़ी होती है, वराह, महिष, बैल, पैदल, हाथी और सिंह-बाघ घोड़े हैं।

'मुनिबास घनेरे'—वाल्मीकि, अत्रि आदि मुनि रहते हैं, यथा—*'अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं।'* (१३२। ७) (ख) *'बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना।'* यथा—*'करि केहरि मृग बिहग बिहारू।'* (१३२। ४)

प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें इसी प्रकारका एक रूपक है जिसमें 'महामोह' को राजा, कामको मन्त्री और प्रधान सेनापति कहा गया है। दूसरी ओर विवेकको राजा कहकर उसके भी कटकादिका वर्णन है। दोनोंके समाजकी तालिका मिलानके लिये यहाँ दी जाती है।

	प्रबोधचन्द्रोदय	मानस	शत्रु (प्र० ना०)	शत्रु (मानस)
राजा	विवेक	विवेक	महामोह	मोह
रानी	मति		मिथ्यादृष्टि	ज्ञानेन्द्रिय